वलराम दास

बलराम दास

प्रस्तर पर उत्कीर्ण मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का यह दृश्य है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान् बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। नीचे बैठा है मुंशी जो व्याख्या का दस्तावेज लिख रहा है। यह भारत में लेखन-कला का संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई०
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

बलराम दास

लेखक

चित्तरंजन दास

अनुवादक

सुरेश कुमार

प्रस्तर पर छपे

तीन

बैठा है मुर्गी

सबसे प्राचीन और

नागार्जुनकोण्डा

सौजन्य

अनुक्रम

1. तीन कथाएँ 7

2. पंचसखाओं में ज्येष्ठतम बलराम दास 15

3 ओड़िया रामायण 25

4 बलराम दास की अन्य रचनाएँ 41

5. दरबारी वैष्णवों से विवाद 53

6 भाषा और समाज पर प्रभाव 69

7. विद्रोही भक्त 79

संदर्भ-ग्रंथ 91

Balaram Das : Hindi translation by Suresh Kumar o
Chittaranjan Das's monograph in English. Sahitya Akademi
New Delhi (1988), Rs. 5.

प्रथम संस्करण : 1988

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
ब्लाक V-बी, रवीन्द्र सरोवर स्टेडियम, कलकत्ता 700 029
29, एल्डाम्स रोड, तेनामपेट, मद्रास 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई 400 014

मूल्य
पाँच रुपये

मुद्रक
संजय प्रिंटर्स
दिल्ली 110

अनुक्रम

1. तीन कथाएँ 7

2. पंचसखाओं में ज्येष्ठतम बलराम दास 15

3 ओड़िया रामायण 25

4 बलराम दास की अन्य रचनाएँ 41

5. दरबारी वैष्णवों से विवाद 53

6 भाषा और समाज पर प्रभाव 69

7. विद्रोही भक्त 79

संदर्भ-ग्रंथ 91

तीन कथाएँ

सबसे पहले हम उन तीन कथाओ की चर्चा करेंगे जिनका स्वय बलराम दास ने अपनी तीन पुस्तको मे वर्णन किया है। बहुत सभवत , ये केवल दतकथाएँ हैं, सचाई नही। परन्तु उनकी व्यजनाएँ काफी गहरी हैं। वस्तुत , इन कथाओ के सदेशो से बलराम दास को तीनो रचनाओं के प्रणयन की प्रेरणा मिली।

पहली कथा की घटना तब घटी जब बलराम दास पच्चीस वर्ष के थे। उस समय वे पुरी मे रहते थे। धार्मिक पुस्तको के अध्ययन में और धर्मचर्चा मे उनकी गहरी रुचि थी। पुरी मे जगन्नाथ मदिर के प्रागण मे समय-समय पर ऐसी सभाएँ आयोजित की जाती थी जिनमे बड़े-बड़े विद्वान और पडित धर्म और दर्शन पर चर्चा-परिचर्चा किया करते थे। परम्परा यह थी कि केवल ब्राह्मण ही धर्मचर्चा मे भाग लेते और धर्मोपदेश सुनते थे। यदि चर्चा-उपदेश के समय भगवान के दर्शनार्थ आये उत्कल-राज मदिर मे उपस्थित होते तो वे भी उपदेश और चर्चा का श्रवण करते।

कथा मे वर्णित घटना 1509 या 1510 के आसपास घटी बताई जाती है। वह दिन विशेष रूप से शुभ था और पडित मडली वेदात दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसगो पर परिचर्चा सुनने के लिए एकत्र हुई थी। जैसा ऐसे अवसरो पर प्राय. होता है, किसी महत्त्वपूर्ण प्रकरण की व्याख्या के सिलसिले मे विद्वानो मे मतभेद हो गया और बहुत जल्दी उसने विवाद का रूप ले लिया। सभासद शक्तिपरीक्षण पर उतारू हो गए और श्रोतागण दलो मे बँट गए। इस पर बलराम दास, जो ब्राह्मण का वेष धरे सभा मे उपस्थित थे, खड़े हो गए और भाषण देने लगे।

उनके भाषण को सुनकर विद्वान लोग चकित हो गए। उनकी व्याख्या और स्पष्टीकरण से सब लोग सतुष्ट हुए और शास्त्रचर्चा शातिपूर्वक समाप्त हो गई। ब्राह्मणो ने जहाँ नवयुवक की, यह मानकर कि वह भी ब्राह्मण ही है, तारीफ की, वहाँ उन्हें यह जानने की भी उत्कण्ठा हुई कि नवागन्तुक है कौन। उन्हें तुरत मालूम

उन्होंने बलराम को अपना 'गुरूणा गुरु' माना क्यों [illegible]
मानते थे।

बलराम दास कृत श्रीमद्भागवत के ओडिया अनुवाद के परिशिष्ट में इस कथा का दूसरा रूप मिलता है। अनुवाद-कार्य हाथ में लेने के कारणों की चर्चा करते हुए, अपने ग्रंथ में, बलराम दास कहते हैं कि एक दिन प्रात काल पुरी में भगवान जगन्नाथ के मंदिर में जब वे पहुँचे तो पुजारी लोग देवताओं की साज-सज्जा में व्यस्त थे। राजा भी वहाँ उपस्थित थे। दैनिक स्तुति-वंदना आदि के बाद, राजा को उस दिन मंदिर के प्रांगण में विद्वानों के साथ ईश्वरीय ज्ञान की चर्चा में शामिल होना था। युवा बलराम को लगा कि यह उसके लिए एक अच्छा मौका है जिसे गँवाना ठीक न होगा। वे ब्राह्मण का वेश धर उस विशिष्ट सभा में शामिल हो गए तथा उन्होंने एक अत्यंत विद्वान ब्राह्मण द्वारा प्रस्तुत गीता की व्याख्या को सुना। परंतु धर्मोपदेश के बाद उनका भेद खुल गया और घुसपैठ के आरोप में वे पकड़ लिए गए। धर्मोपदेश सुनने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था, शूद्रों को नहीं। बलराम की तुलना ऐसे कुत्ते से की गई जिसने ऊँची जाति में जन्मे प्राणियों के लिए सुरक्षित भोजन को खाने की कोशिश की थी। शाम को राजा के आने तक उन्हें बन्दी बनाकर रखा गया। उन पर आरोप था कि ब्राह्मण न होते हुए भी उन्होंने ब्राह्मणों की उस सभा में धर्म-चर्चा सुनी जिसकी अनुमति उन्हें समाज नहीं देता, और इस अपराध के लिए उन्हें सबक सिखाया जाना चाहिए। राजा को आरोप ठीक लगा और बलराम दास को धर्म के रक्षक राजा के सामने पेश किया गया। राजा ने बलराम दास से पूछा कि उन्होंने कानून की मर्यादा क्यों तोड़ी। बलराम ने नम्रता के साथ उत्तर दिया कि ईश्वरीय ज्ञान के [illegible] प्रत्येक व्यक्ति को यह ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है, उसकी जाति, धर्म वर्ण आदि कुछ भी हो। गीता में यह ईश्वरीय ज्ञान निहित है तथा प्रत्येक [illegible] है। इस पर केवल ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं हो सकता। [illegible] कोई भी धर्मग्रंथ और ज्ञान का कोई भी क्षेत्र [illegible] महाराज यह मानते हों कि ईश्वरीय ज्ञान केवल उच्च [illegible] है और उसे गुप्त रखा जाना चाहिए तो वह [illegible] उन्होंने [illegible] के समय एक अछूत के मुँह से गीता का पाठ [illegible] गया। एक

अभियुक्त का यह आचरण [illegible] बहुत विस्मय [illegible] दिया कि बलराम दास को [illegible] है। इस [illegible] उनके सामने पेश किया [illegible] और [illegible] के स्वर उन्हें [illegible] ने एक स्वप्न देखा जिसमें [illegible] ही उन्हें [illegible] के [illegible] और [illegible]

पड़ गया कि नवयुवक ब्राह्मण नही और शास्त्रचर्चा मे भाग लेने की बात तो दूर, उस सभा मे बैठने तक का अधिकार न था। मर्यादा भंग की इस घटना पर वहाँ इतनी उत्तेजना फैली कि सारे सभासद एकजुट हो बलराम दास को गालियाँ देने और लाछित करने करने लगे। उस शूद्रपुत्र की ऐसी सभा मे आने की हिम्मत कैसे हुई जिसमे केवल ब्राह्मणों को ही प्रवेश मिल सकता था, और उस पर उसने वहाँ भाषण देने का घोर अपराध भी कर डाला? लोगों के क्रोध का वारापार न था।

अपराधी को राजा के सामने पेश किया गया और बाकायदा शिकायत की गई। अभियोग यह था कि एक ऐसे व्यक्ति को शास्त्र का पवित्र ज्ञान अर्जित करने तथा उसकी व्याख्या करने का कोई अधिकार नही जो ब्राह्मण वंश मे नही जन्मा, और यह दलील दी गई ऐसा करने वाले को कठोर दंड दिया जाए। राजा तो विधिनिषेध की सामाजिक रूढ़ियों का संरक्षक ही होता है। इसलिए उत्कल-राज को अभियोग के औचित्य को स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही हुई और बहुत क्रुद्ध होकर उन्होंने भी बलराम दास को खूब झिड़का। राजा के इस व्यवहार से ब्राह्मणों को अपनी जबान के पैंतरे और तेज करने का मौका मिल गया। बलराम

... आघात सहने की शक्ति न थी और कहा जाता है कि वे

उन्होंने बलराम को अपना 'गुरुणा गुरु' माना क्योंकि श्री चैतन्य को वे अपना गुरु मानते थे।

बलराम दास कृत श्रीमद्भागवत के ओड़िया अनुवाद के परिशिष्ट में इस कथा का दूसरा रूप मिलता है। अनुवाद-कार्य हाथ में लेने के कारणों की चर्चा करते हुए, अपने ग्रंथ में, बलराम दास कहते हैं कि एक दिन प्रातःकाल पुरी में भगवान जगन्नाथ के मंदिर में जब वे पहुँचे तो पुजारी लोग देवताओं की साज-सज्जा में व्यस्त थे। राजा भी वहाँ उपस्थित थे। दैनिक स्तुति-वंदना आदि के बाद, राजा को उस दिन मंदिर के प्रांगण में विद्वानों के साथ ईश्वरीय ज्ञान की चर्चा में शामिल होना था। युवा बलराम को लगा कि यह उसके लिए एक अच्छा मौका है जिसे गँवाना ठीक न होगा। वे ब्राह्मण का वेश धर उस विशिष्ट सभा में शामिल हो गए तथा उन्होंने एक अत्यंत विद्वान ब्राह्मण द्वारा प्रस्तुत गीता की व्याख्या को सुना। परंतु धर्मोपदेश के बाद उनका भेद खुल गया और घुसपैठ के आरोप में वे पकड़ लिये गए। धर्मोपदेश सुनने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था, शूद्रों को नहीं। बलराम की तुलना ऐसे कुत्ते से की गई जिसने ऊँची जाति में जन्मे प्राणियों के लिए सुरक्षित भोजन को खाने की कोशिश की थी। शाम को राजा के आने तक उन्हें बन्दी बनाकर रखा गया। उन पर आरोप था कि ब्राह्मण न होते हुए भी उन्होंने ब्राह्मणों की उस सभा में धर्म-चर्चा सुनी जिसकी अनुमति उन्हें समाज नहीं देता, और इस अपराध के लिए उन्हें सबक सिखाया जाना चाहिए। राजा को आरोप ठीक लगा और बलराम दास को धर्म के रक्षक राजा के सामने पेश किया गया। राजा ने बलराम दास से पूछा कि उन्होंने कानून की मर्यादा क्यों तोड़ी। बलराम ने नम्रता के साथ उत्तर दिया कि ईश्वरीय ज्ञान के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को वह ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है, उसकी जाति, धर्म वर्ण आदि कुछ भी हो। गीता में वह ईश्वरीय ज्ञान निहित है तथा प्रत्येक ज्ञानपिपासु भक्त उसे पा सकता है। इस पर केवल ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं हो सकता। सच्चे भक्त के लिए कोई भी धर्मग्रंथ और ज्ञान का कोई भी क्षेत्र वर्जित नहीं होना चाहिए। यदि महाराज यह मानते हों कि ईश्वरीय ज्ञान केवल उच्च कुलोत्पन्न व्यक्तियों के लिए है और उसे गुप्त रखा जाना चाहिए तो वह (बलराम दास) कल मंदिर में देवपूजा के समय एक अछूत के मुँह से गीता का पाठ करवा कर दिखा देगा।

अभियुक्त का यह आचरण मर्यादा का स्पष्ट उल्लंघन था। राजा ने आदेश दिया कि बलराम दास को पुनः बंदी बनाया जाए और कल एक निश्चित समय पर उनके सामने पेश किया जाए। अब बलराम ने भगवान जगन्नाथ से प्रार्थना की कि वे स्वयं उन्हें संकट से उबारें। वे देर तक भगवान की प्रार्थना में लीन रहे, क्योंकि भगवान ही उन्हें राजा के क्रोध से बचा सकते थे। इस प्रकार घड़ियाँ बीतती गईं और आ[illegible] मंदिर के द्वार पर ताला लग गया और सब लोग सोने चले

पड गया कि नवयुवक ब्राह्मण नही और शास्त्रचर्चा मे भाग लेने की बात तो दूर, उसे सभा मे बैठने तक का अधिकार न था। मर्यादा भंग की इस घटना पर वहाँ इतनी उत्तेजना फैली कि सारे सभासद एकजुट हो बलराम दास को गालियाँ देने *और लाछित करने करने लगे। उस शूद्रपुत्र की ऐसी सभा में आने की हिम्मत कैसे* हुई जिसमें केवल ब्राह्मणो को ही प्रवेश मिल सकता था, और उस पर उसने वहाँ भाषण देने का घोर अपराध भी कर डाला? लोगो के क्रोध का वारापार न था।

अपराधी को राजा के सामने पेश किया गया और बाकायदा शिकायत की गई। अभियोग यह था कि एक ऐसे व्यक्ति को शास्त्र का पवित्र ज्ञान अर्जित करने तथा उसकी व्याख्या करने का कोई अधिकार नही जो ब्राह्मण वश मे नही जन्मा, और यह दलील दी गई ऐसा करने वाले को कठोर दंड दिया जाए। राजा तो विधिनिषेध की सामाजिक रूढियो का सरक्षक ही होता है। इसलिए उत्कल-राज को अभियोग के औचित्य को स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही हुई और बहुत क्रुद्ध होकर उन्होने भी बलराम दास को खूब झिडका। राजा के इस व्यवहार से ब्राह्मणो को अपनी जबान के पैंतरे और तेज करने का मौका मिल गया। बलराम दास मे इससे अधिक अपमान सहने की शक्ति न थी और कहा जाता है कि चिल्लाकर बोले: "राजन! यह तो विचित्र बात है [illegible] रहे हैं। परन्तु सत्य यह है कि न केवल मैं, परन्तु ऐसे [illegible] सफलतापूर्वक भाषण दे सकता है जिसके सिर पर मैं [illegible] तो कल ही मैं इसे आपके सामने सिद्ध कर दूंगा।"

अब तो उत्कल-राज की क्रोधाग्नि भड़क उठी [illegible] वहाँ उपस्थित लोगो की [illegible] और उसके पास सत्ता [illegible] प्रागण मे गजभर बदी [illegible] वह अगले दिन वह अ[illegible] वह हाथ रख देगा [illegible] भर भगवान [illegible] दिन सुबह राजा और [illegible] व्यक्ति की या [illegible] बलराम ने उस [illegible] इच्छा के अनुसार [illegible] निर्देशों के अनुसार, [illegible] बन्दिन हो गए। इस [illegible] अनुरोध किया कि वे [illegible] दास को बेशुमार [illegible]

उन्होंने बलराम को अपना 'गुरुणा गुरु' माना क्योंकि श्री चैतन्य को वे अपना गुरु मानते थे।

बलराम दास कृत श्रीमद्भागवत के ओड़िया अनुवाद के परिशिष्ट में इस कथा का दूसरा रूप मिलता है। अनुवाद-कार्य हाथ में लेने के कारणों की चर्चा करते हुए, अपने ग्रंथ में, बलराम दास कहते हैं कि एक दिन प्रात काल पुरी में भगवान जगन्नाथ के मंदिर में जब वे पहुँचे तो पुजारी लोग देवताओं की साज-सज्जा में व्यस्त थे। राजा भी वहाँ उपस्थित थे। दैनिक स्तुति-वंदना आदि के बाद, राजा को उस दिन मंदिर के प्रांगण में विद्वानों के साथ ईश्वरीय ज्ञान की चर्चा में शामिल होना था। युवा बलराम को लगा कि यह उनके लिए एक अच्छा मौका है जिसे गँवाना ठीक न होगा। वे ब्राह्मण का वेश धर उस विशिष्ट सभा में शामिल हो गए तथा उन्होंने एक अत्यंत विद्वान ब्राह्मण द्वारा प्रस्तुत गीता की व्याख्या को सुना। परन्तु धर्मोपदेश के बाद उनका भेद खुल गया और घुसपैठ के आरोप में वे पकड़ लिए गए। धर्मोपदेश सुनने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था, शूद्रों को नहीं। बलराम की तुलना ऐसे कुत्ते से की गई जिसने ऊँची जाति में जन्मे प्राणियों के लिए सुरक्षित भोजन को खाने की कोशिश की थी। शाम को राजा के आने तक उन्हें बन्दी बनाकर रखा गया। उन पर आरोप था कि ब्राह्मण न होते हुए भी उन्होंने ब्राह्मणों की उस सभा में धर्म-चर्चा सुनी जिसकी अनुमति उन्हें समाज नहीं देता, और इस अपराध के लिए उन्हें सबक सिखाया जाना चाहिए। राजा को आरोप ठीक लगा और बलराम दास को धर्म के रक्षक राजा के सामने पेश किया गया। राजा ने बलराम दास से पूछा कि उन्होंने कानून की मर्यादा क्यों तोड़ी। बलराम ने नम्रता के साथ उत्तर दिया कि ईश्वरीय ज्ञान के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को वह ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है, उसकी जाति, धर्म वर्ण आदि कुछ भी हो। गीता में वह ईश्वरीय ज्ञान निहित है तथा प्रत्येक ज्ञानपिपासु भक्त उसे पा सकता है। इस पर केवल ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं हो सकता। सच्चे भक्त के लिए कोई भी धर्मग्रंथ और ज्ञान का कोई भी क्षेत्र वर्जित नहीं होना चाहिए। यदि महाराज यह मानते हों कि ईश्वरीय ज्ञान केवल उच्च कुलोत्पन्न व्यक्तियों के लिए है और उसे गुप्त रखा जाना चाहिए तो वह (बलराम दास) कल मंदिर में देवपूजा के समय एक अछूत के मुँह से गीता का पाठ करवा कर दिखा देगा।

अभियुक्त का यह आचरण मर्यादा का स्पष्ट उल्लंघन था। राजा ने आदेश दिया कि बलराम दास को पुन. बंदी बनाया जाए और कल एक *निश्चित समय* पर उनके सामने पेश किया जाए। अब बलराम ने भगवान जगन्नाथ से प्रार्थना की कि वे स्वयं उन्हें संकट से उबारें। वे देर तक भगवान की प्रार्थना में लीन रहे, क्योंकि भगवान ही उन्हें राजा के क्रोध से बचा सकते थे। इस प्रकार घड़ियाँ बीतती गईं और रात आ पहुँची। मंदिर के द्वार पर ताला लग गया और सब लोग सोने चले

पड़ गया कि नवयुवक ब्राह्मण नहीं और शास्त्रचर्चा में भाग लेने की बात तो दूर, उसे सभा में बैठने तक का अधिकार न था। मर्यादा भंग की इस घटना पर वहाँ इतनी उत्तेजना फैली कि सारे सभासद एकजुट हो बलराम दास को गालियाँ देने और लांछित करने करने लगे। उस शूद्रपुत्र की ऐसी सभा में आने की हिम्मत कैसे हुई जिसमें केवल ब्राह्मणों को ही प्रवेश मिल सकता था, और उस पर उसने वहाँ भाषण देने का घोर अपराध भी कर डाला? लोगों के क्रोध का पारावार न था।

अपराधी को राजा के सामने पेश किया गया और बाकायदा शिकायत की गई। अभियोग यह था कि एक ऐसे व्यक्ति को शास्त्र का पवित्र ज्ञान अर्जित करने तथा उसकी व्याख्या करने का कोई अधिकार नहीं जो ब्राह्मण वंश में नहीं जन्मा, और यह दलील दी गई ऐसा करने वाले को कठोर दंड दिया जाए। राजा तो विधिनिषेध की सामाजिक रूढ़ियों का संरक्षक ही होता है। इसलिए उत्कल-राज को अभियोग के औचित्य को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई और बहुत क्रुद्ध होकर उन्होंने भी बलराम दास को खूब झिड़का। राजा के इस व्यवहार से *ब्राह्मणों को अपनी जबान के पैंतरे और तेज करने का मौका मिल गया। बलराम* दास में इससे अधिक अपमान सहने की शक्ति न थी और कहा जाता है कि वे चिल्लाकर बोले : "राजन! यह तो विचित्र बात है कि आप भी मुझे लांछित कर रहे हैं। परन्तु सत्य यह है कि न केवल मैं, परन्तु ऐसा कोई भी व्यक्ति वेदांत पर सफलतापूर्वक भाषण दे सकता है जिसके सिर पर मैं हाथ रख दूँ। यदि आप चाहें *तो कल ही मैं इसे आपके सामने सिद्ध कर दूंगा।"*

अब तो उत्कल-राज की क्रोधाग्नि भड़क उठी जिसे और अधिक भड़काने में वहाँ उपस्थित लोगों की वाणी ने घी का काम किया। परंपरा राजा के पक्ष में थी, और उनके पास सत्ता भी थी। उन्होंने आदेश दिया कि बलराम दास को मंदिर के प्रांगण में रातभर बंदी बनाकर रखा जाए और बलराम दास को यह कहा गया कि वह अगले दिन वह अपने इस दावे को साबित करे कि जिस किसी के सिर पर वह हाथ रख देगा वही वेदांत की व्याख्या कर देगा। बंदीगृह में बलराम दास रात भर भगवान जगन्नाथ से अग्निपरीक्षा में सफल होने की प्रार्थना करते रहे। अगले *दिन सुबह राजा और ब्राह्मण मंदिर के प्रांगण में इकट्ठा* हुए, *उनके साथ एक* व्यक्ति भी था—शास्त्रज्ञान से सर्वथा शून्य। भगवान जगन्नाथ को मन में धारे बलराम ने उस अज्ञानी व्यक्ति से कहा कि राजा और अन्य उपस्थित लोगों की इच्छा के अनुसार वह उनके सामने वेदांत के रहस्य की व्याख्या प्रस्तुत करे। किंवदंती के अनुसार, उस व्यक्ति ने सचमुच वेदांत की व्याख्या कर दी और सब चकित हो गए। इस पर मंत्रमुग्ध हुए राजा तथा अन्य सभासदों ने बलराम दास से अनुरोध किया कि वे स्वयं वेदांत पर भाषण दें। इसके परिणामस्वरूप बलराम दास की वेदांतसार गुप्त गीता की रचना हुई। राजा तो इतने प्रसन्न हुए कि

उन्होंने बलराम को अपना 'गुरुणा गुरु' माना क्योंकि श्री चैतन्य को वे अपना गुरु मानते थे।

बलराम दास कृत श्रीमद्भागवत के ओडिया अनुवाद के परिशिष्ट में इस कथा का दूसरा रूप मिलता है। अनुवाद-कार्य हाथ में लेने के कारणों की चर्चा करते हुए, अपने ग्रंथ में, बलराम दास कहते हैं कि एक दिन प्रात काल पुरी में भगवान जगन्नाथ के मंदिर में जब वे पहुँचे तो पुजारी लोग देवताओं की साज-सज्जा में व्यस्त थे। राजा भी वहाँ उपस्थित थे। दैनिक स्तुति-वदना आदि के बाद, राजा को उस दिन मंदिर के प्रागण में विद्वानों के साथ ईश्वरीय ज्ञान की चर्चा में शामिल होना था। युवा बलराम को लगा कि यह उसके लिए एक अच्छा मौका है जिसे गँवाना ठीक न होगा। वे ब्राह्मण का वेश धर उस विशिष्ट सभा में शामिल हो गए तथा उन्होंने एक अत्यत विद्वान ब्राह्मण द्वारा प्रस्तुत गीता की व्याख्या को सुना। परन्तु धर्मोपदेश के बाद उनका भेद खुल गया और घुसपैठ के आरोप में वे पकड़ लिए गए। *धर्मोपदेश सुनने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था, शूद्रों को नहीं।* बलराम की तुलना ऐसे कुत्ते से की गई जिसने ऊँची जाति में जन्मे प्राणियों के लिए सुरक्षित भोजन को खाने की कोशिश की थी। शाम को राजा के आने तक उन्हें बन्दी बनाकर रखा गया। उन पर आरोप था कि ब्राह्मण न होते हुए भी उन्होंने ब्राह्मणों की उस सभा में धर्म-चर्चा सुनी जिसकी अनुमति उन्हें समाज नहीं देता, और इस अपराध के लिए उन्हें सबक सिखाया जाना चाहिए। राजा को आरोप ठीक लगा और बलराम दास को धर्म के रक्षक राजा के सामने पेश किया गया। राजा ने बलराम दास से पूछा कि उन्होंने कानून की मर्यादा क्यों तोड़ी। बलराम ने नम्रता के साथ उत्तर दिया कि ईश्वरीय ज्ञान के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को वह ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है, उसकी जाति, धर्म वर्ण आदि कुछ भी हो। गीता में वह ईश्वरीय ज्ञान निहित है तथा प्रत्येक ज्ञानपिपासु भक्त उसे पा सकता है। इस पर केवल ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं हो सकता। सच्चे भक्त के लिए कोई भी धर्मग्रंथ और ज्ञान का कोई भी क्षेत्र वर्जित नहीं होना चाहिए। यदि महाराज यह मानते हों कि ईश्वरीय ज्ञान केवल उच्च कुलोत्पन्न व्यक्तियों के लिए है और उसे गुप्त रखा जाना चाहिए तो वह (बलराम दास) कल मंदिर में देवपूजा के समय एक अछूत के मुँह से गीता का पाठ करवा कर दिखा देगा।

अभियुक्त का यह आचरण मर्यादा का स्पष्ट उल्लंघन था। राजा ने आदेश दिया कि बलराम दास को पुन. बंदी बनाया जाए और कल एक निश्चित समय पर उनके सामने पेश किया जाए। अब बलराम ने भगवान जगन्नाथ से प्रार्थना की कि वे स्वयं उन्हें संकट से उबारें। वे देर तक भगवान की प्रार्थना में लीन रहे, क्योंकि भगवान ही उन्हें राजा के क्रोध से बचा सकते थे। इस प्रकार घड़ियाँ बीतती गईं और रात आ पहुँची। मंदिर के द्वार पर ताला लग गया और सब लोग सोने चले

गए। आधी रात के बाद, ब्राह्ममुहूर्त की वेला में, बलराम ने स्वप्न देखा। स्वयं भगवान जगन्नाथ अपने पूर्ण वैभव में अपनी चिरसंगिनी देवी लक्ष्मी के साथ बलराम के सामने प्रकट हुए। बलराम दास लिखते हैं कि स्वयं भगवान जगन्नाथ ने उन्हें आदेश दिया कि वे सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा प्राकृत में गीता की व्याख्या प्रस्तुत करें। भगवान की इस सहायता और दिव्य प्रेरणा के बल पर बलराम ने रात भर में अपना काम पूरा कर दिया। प्रात.काल मंदिर में आने पर राजा ने बलराम दास को उनके सामने प्रस्तुत किए जाने का आदेश दिया। बलराम दास गीता अपने हाथ में लिये सबके सामने पेश हुए और राजा ने—तब तक ब्राह्मणों की सभा जुट गई थी और राजा के दरबारी भी जमा हो गए थे—बलराम दास को कहा कि वह अपने वचन के अनुसार किसी अछूत से गीता का पाठ करवाए। ब्राह्मणों के यह कहने पर कि मंदिर के प्रांगण में कोई अछूत नहीं आ सकता, राजा ने बलराम दास को स्वयं गीता पाठ का आदेश दिया। आदेश पाकर बलराम दास ने अपनी नवरचित प्राकृत गीता का पाठ प्रस्तुत किया। सारी सभा और राजा गीता पाठ को सुनकर चकित हो गए तथा बलराम की तारीफ करने लगे।

दूसरी कथा का वर्णन बलराम ने अपनी एक छोटी रचना में किया है। एक बार बलराम दास की इच्छा हुई कि वह लंका जाकर विभीषण को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करे और पुरातन युग में भगवान राम के शूरतापूर्ण कार्यों से संबंधित स्थलों का अपनी आँखों से अवलोकन करे। भगवान जगन्नाथ, जो स्वयं राम ही थे, बलराम दास की इस इच्छा को जानते थे और उन्हें एक वर देना चाहते थे। भगवान जगन्नाथ ने उसी दिन रात के समय, मंदिर में पूजा के दैनिक अनुष्ठान समाप्त होने के बाद विश्राम के लिए सब लोगों के घर चले जाने पर, बलराम दास की लंका यात्रा की व्यवस्था कर दी। निश्चित घड़ी आने पर भगवान जगन्नाथ ने बलराम दास को आदेश दिया कि वह भगवान के रत्नजटित चँदोवे को अपने हाथों में लेकर (भगवान के) पीछे-पीछे आए। इस प्रकार भगवान के चरणचिह्नों के पीछे उनके दिखाए मार्ग पर चलना, वस्तुत: एक साधारण मानव के लिए महान उपलब्धि थी। और होते-होते दोनों ओर की यात्रा पूरी हो गई और बलराम अपने इस अविश्वसनीय सौभाग्य पर इतने प्रमुदित और भगवान के स्तुतिगान में इतने लीन हो गए कि उन्हें मंदिर में चँदोवे को उसके स्थान पर रखने की याद न रही। प्रात काल पुजारियों ने चँदोवे को गायब पाया तो उन्होंने राजा को इसकी सूचना दी। सब जगह घबड़ाहट फैल गई। जब बलराम को इसका पता चला तो उन्होंने बता दिया कि चँदोवा उनके पास है, परंतु, जाहिर है, वह यह बताने को तैयार न थे कि चँदोवा, बजाए मंदिर के, उनके पास क्यों था। इस पर राजा को बहुत क्रोध आया और उन्होंने इस कुकृत्य की कड़े शब्दों में भर्त्सना की। तब बलराम को सच्ची बात बतानी पड़ी और गत रात्रि की घटना का पूरा विवरण देना पड़ा।

राजा तथा अन्य उपस्थित लोग यह सब जानकर बहुत चकित हुए। बलराम घर लौटे और उन्होंने उस सारे अनुभव को पदबद्ध कर दिया। यहाँ यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि पुरी में अब भी यह जनविश्वास प्रचलित है कि लंका का राजा विभीषण भगवान जगन्नाथ के दर्शन करने प्रतिदिन पुरी आता है।

तीसरी कथा भी पहली दो के समान रोचक है और उसी निष्ठा के साथ उसका वर्णन किया गया है। इसमें भी दृश्य पुरी का है और प्रसंग है पावन रथयात्रा उत्सव, जब मंदिर के देवताओं की वर्ष में एक बार शोभायात्रा निकलती है। उन्हें अपने-अपने रथों पर समारोहपूर्वक आसीन किया जाता है, रथों पर प्रत्येक देवता की अपनी पताका होती है और विशाल शोभायात्रा में वे अपने-अपने स्थान पर विराजमान होते हैं। भक्त लोग यदि देवताओं के रथ पर सवारी कर सकें तो वे उसे अपना महान् सौभाग्य मानते हैं। निःसन्देह, रथयात्रा-उत्सव में जितना उत्साह लोगों में अब दिखाई देता है उतना ही बलराम दास के समय भी होता था। परंतु परिपाटी यह बन गई थी कि यह दुर्लभ सौभाग्य कुछ गिने-चुने लोगों को ही मिल पाता था और यह भी लगभग निश्चित होता था कि स्थानीय जनता में से ऐसे लोग कौन-कौन होंगे। निश्चित रूप से, बलराम दास का नाम ऐसे लोगों की सूची में न था। परंतु बलराम भला इस प्रवंचना को क्यों सहन करते? उन्होंने चोरी-छिपे वह चीज़ पाने की कोशिश की जो उनके लिए निषिद्ध थी। ब्राह्मण न होते हुए भी उन्होंने और लोगों के साथ भगवान जगन्नाथ के रथ में, उसे अपना अधिकार मानते हुए, स्थान पाने का यत्न किया। रथ सेवक ने उनकी चोरी पकड़ ली और राजा की आज्ञा से उन्हें वहाँ से हटाकर नीचे धकेल दिया। कहा जाता है कि उनके साथ हाथापाई भी हुई। उपस्थित जनसमूह उनसे डरने लगा। यह बलराम का घोर अपमान था; उन्हें एक कड़वी घूँट पीनी पड़ी थी। उनकी कोमल भावनाओं को गहरा आघात लगा, पर वे भी जल्दी हार माननेवाले न थे। वे उत्सव-स्थल से चले गए और समुद्रतट पर जाकर बालू में उन्होंने रथ का चिह्न बनाया एवं पूरी उमंग के साथ भगवान की स्तुति में अपना हृदय उँडेल दिया। इस प्रसंग पर स्वयं बलराम द्वारा रचित एक कृति के अनुसार, भगवान जगन्नाथ को यह देख कर बड़ी पीड़ा हुई कि उनके एक भक्त के साथ दुर्व्यवहार हुआ, तथा विरोध स्वरूप और बलराम की मानहानि की मानों भरपाई करते हुए उन्होंने शोभायात्रा के रथ को छोड़कर बालू में बने रथ पर आसन ग्रहण कर लिया। फल यह हुआ कि शोभायात्रा का रथ रुक गया जिसे देखकर राजा को बहुत विस्मय हुआ और वहाँ उपस्थित हज़ारों तीर्थयात्रियों को बड़ी निराशा हुई। इस गड़बड़झाले में सारा दिन बीत गया, हर व्यक्ति उस घटना से बहुत दुःखी और परेशान था और उसका कारण जानने को बेताब था। रात के समय राजा ने एक स्वप्न देखा जिसमें भगवान जगन्नाथ उनके सामने प्रकट हुए और शोभायात्रा के रथ के रुक जाने का कारण

बताया। भगवान के एक भक्त को अपमान और तिरस्कार सहन करना पड़ा था जिसके कारण भगवान ने यह फैसला किया कि वे राजा के आदेश से निर्मित रथ को छोड़कर समुद्रतट की बालू पर स्वयं भक्त द्वारा बनाए रथ पर आसीन होंगे। राजा को तुरंत अपनी गलती का अहसास हो गया; वे भागे-भागे समुद्रतट पर पहुँचे और बलराम दास से माफी माँगी। उसके बाद ही, अगले दिन, शोभायात्रा का परम्परागत रथ आगे बढ़ सका। बलराम दास ने इस घटना का वर्णन अपनी एक छोटी पद्य रचना 'भाव समुद्र' में किया है।

हमने इस पुस्तक का आरंभ जो इन तीन कथाओं के वर्णन से किया गया है वह अकारण नहीं। हम पहले ही कह चुके हैं, ये कथाएँ केवल दंतकथाएँ हैं, और इनमें संभवतः काफी मात्रा में अत्युक्ति भी है। तथापि इनसे कुछ ऐसी बातों का संकेत होता है जो बलराम दास की कविता तथा ओड़िया साहित्य के इतिहास के उस चरण को जिससे वे जुड़े हैं, समझने में सहायक है। बलराम दास और उन जैसे अन्य अनेक कवि दरबारी कवि न थे; वे अनेक दृष्टियों से एक प्रकार के विद्रोही कवि थे। उन्होंने धर्म और साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित एवं अनुल्लंघनीय मानी जानेवाली परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया था। वे साधक थे, तत्त्वतः साधक, और उनकी कविता और काव्यकल्पना, साधना के अनुभव की अभिव्यक्ति मात्र है। वे समकालीन समाज की रूढ़ियों, और सत्य की खोज में बाधक शास्त्रों तथा जातिबंधन की प्रथाओं का विरोध करते थे।

उड़िया साहित्य में यह (जनवादी) धारा सारळा दास के समय से पंद्रहवीं शताब्दी में ही आरंभ हो चुकी थी। ओड़िया महाभारत के लेखक और ओड़िया भाषा के निर्माता सारळा दास ने सफलतापूर्वक यह प्रदर्शित कर दिया था कि सूक्ष्मतम भावों को जनसाधारण की भाषा में अभिव्यक्त किया जा सकता है; उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया था कि सब लोग अनुवाद के माध्यम से धर्मग्रंथों को पढ़कर उनका लाभ उठा सकते हैं। सारळा दास ने अनेक स्थानों पर अपने आपको 'शूद्रमुनि' कहा है। हम देख चुके हैं कि पुरी के जगन्नाथ मंदिर के सत्ताधारी पंडितों ने किस प्रकार बलराम दास को शूद्रमुनि कहकर प्रताड़ित किया था। यहां 'शूद्र' से तात्पर्य केवल 'अ-ब्राह्मण' है, अन्य कुछ नहीं। पुस्तक में आगे चल कर हमें इस शब्द के वास्तविक महत्त्व की चर्चा करने का अवसर मिलेगा।

इसे विडंबना ही समझिए कि पुरी का जगन्नाथ मंदिर उस सत्ता का प्रतीक रहा है जो ओड़िया समाज की छोटी से लेकर बड़ी परम्पराओं पर युगों से अपना वर्चस्व स्थापित किए है। भगवान जगन्नाथ के मंदिर में सबसे पहले पूजा-अर्चा करने का अधिकार उड़ीसा के राजा का रहा है। शाब्दिक अर्थ (जगत्+नाथ) के अनुसार भगवान जगन्नाथ समस्त विश्व के स्वामी, अतएव उपास्य हैं, और उनके असंख्य प्रशंसकों ने इसी रूप में उनका गुणगान किया है। परन्तु वास्तविकता यह है

कि मंदिर के द्वार आज तक भी समस्त जातियों, धर्मों, और सम्प्रदायों के अनुयायियों के लिए समान भाव से नहीं खुल सके। पिछली अनेक शताब्दियों में महान पंडित, दार्शनिक, तथा नवीन वादों एवं धर्मों के प्रवर्तक पुरी में आते रहे हैं। अब भी अनेक विद्वान यह सिद्ध करने के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि भगवान जगन्नाथ 'समन्वय' के प्रतीक हैं (वे सबके हैं), किसी एक मत या धर्म का एकाधिपत्य उन पर नहीं। तथापि, वास्तविक व्यवहार में संपूर्ण तंत्र पर एक विशिष्ट वर्ग या वर्गों का आधिपत्य रहा है जिन्होंने, भगवान के नाम के अनुरूप, मंदिर के पट सबके लिए खोलकर उदार हृदयता का परिचय नहीं दिया। पुरी, या कहिए कि स्वयं भगवान जगन्नाथ, ने अपने उस दायित्व का निर्वाह नहीं किया जो प्रेरणा स्रोत होने के नाते उनके कंधों पर है, तथापि जनमानस में उन्हें वह स्थान प्राप्त है जिसके संभवतः वे अधिकारी नहीं।

तदनुसार, हर शताब्दी में ऐसे अनास्थावादी, कवि, संत, सन्यासी, और साधक हुए हैं जिन्होंने रूढ़ियों का विरोध किया तथा सत्ताधारी पुजारी समाज के दंभभरे एवं एकाधिकारवादी दृष्टिकोण और व्यवहार के विरुद्ध आवाज उठाई। उन सबने, लगभग बिना किसी अपवाद के, अपने आप को भक्त कहा है, 'जगत् के नाथ' का गुणगान किया है, अपनी संपूर्ण उपलब्धि का श्रेय भगवान जगन्नाथ को दिया है। इसके बावजूद उन्होंने सत्ता और परम्परा का विरोध किया है, एकाधिकारवाद के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद की है। इस कारण वे लोग, विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग की अहंकारभरी मानसिकता और भेदभावपूर्ण व्यवहार के शिकार भी हुए। विद्वानों में युगों से यह प्रवृत्ति रही है कि उन्होंने समन्वय के नाम पर इधर-उधर की अनेक बातों को मिलाकर भावनाओं का एक जाल बुन डाला है, और शायद अत्युक्ति के उभार में बहकर उड़ीसा को परात्पर ब्रह्म का एकमात्र अधिष्ठान बनाते हुए उसे एक अद्वितीय परम्परा का प्रतीक कहा है। उड़ीसा के राष्ट्रदेवता भगवान जगन्नाथ सार्वभौमता के प्रतीक हैं, सार्वभौम मैत्री तथा बंधुत्व के संदेशवाहक हैं, यह बात उन्होंने सहर्ष स्वीकारी है। इस कथन की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि भगवान जगन्नाथ कभी भी पूर्वोक्त मान्यताओं के अनुरूप नहीं रहे। वे एक वाद या पंथ बन कर रह गए तथा उनके सेवकों ने उन्हें निजी मिल्कियत के रूप में इस्तेमाल किया। क्या यह छोटी बात है कि इस पंथवादी प्रवृत्ति का सदा विरोध होता आया है?

बलराम दास की कहानियों से, तथा उनके सम्बन्ध में अभिव्यक्त उनके व्यक्तिगत अनुभवों से, यह स्पष्ट झलकता है कि मंदिर की सत्ता से विरोध की यह समानान्तर धारा युगों से चलती रही है। बलराम दास ने हमेशा अपने को भगवान जगन्नाथ का भक्त कहा है। अपने समकालीन अन्य भक्तों के समान उन्होंने भी यह माना है कि विष्णु भगवान कई अवतार में, भगवान जगन्नाथ के रूप में, उन्हें

पर अवतीर्ण हुए। उनकी कृतियों को पढ़कर हमें भी यह विश्वास होता है कि एक साधक के रूप में वे अपने सीमित जीवनकाल में जो कुछ भी हो सके, पा सके, तथा लिख सके वह सब भगवान जगन्नाथ का ही प्रसाद था। बलराम दास के जीवन का मुख्य भाग अवश्य पुरी में बीता, क्योंकि पुरी में रहकर ही वे भगवान तथा उनकी लीला के निकट रह सकते थे, परंतु इस सारी अवधि में उन्होंने अपने आपको मंदिर के प्रबंधतंत्र से दूर रखा; यहाँ तक कि अनेक बार उन्होंने अन्यायपूर्ण परंपराओं को तोड़ने की कोशिश की और सत्ताधारियों की अजीबोगरीब सनकों का विरोध किया। इन सबसे बढ़कर, उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि अध्यात्मज्ञान तथा शास्त्रज्ञान की प्राप्ति इस शर्त पर निर्भर नहीं कि व्यक्ति उच्च कुल में जन्मे अथवा उसे शासक का संरक्षण और समर्थन प्राप्त हो।

2

पंचसखाओं में ज्येष्ठतम बलराम दास

उड़िया साहित्य के इतिहास में सोलहवीं शताब्दी के पहले सात दशकों को 'पंचसखा युग' के नाम से नाम जाना जाता है। 'पंचसखा' शब्द से उस समय के पाँच भक्त कवियों का ग्रहण होता है जो न केवल समकालीन थे अपितु 'सखा' भी थे—सहयोगी और मित्र। यद्यपि उड़ीसा के तटवर्ती प्रदेश के विभिन्न भागों में उनका जन्म हुआ था, वे सब भगवान जगन्नाथ के धाम पुरी में आकर बस गए थे, इतना तो निश्चित है कि अपने जीवन के अंतिम चरणों में वे सब एक साथ पुरी में थे।

वे पाँच साधक कवि थे, बलराम दास, जगन्नाथ दास, जसवंत दास, अनंत दास और अच्युतानंद दास। बलराम दास उन सब में बड़े थे। विद्वानों ने लगभग एकमत होकर उनकी जन्मतिथि 1470 के आसपास निश्चित की है। सुनिश्चित ऐतिहासिक साक्ष्य के अभाव में, एक यह मत भी रहा है कि पाँचों साधक कवि समकालीन थे ही नहीं, इसलिए 'पंचसखा' इस शब्द की वैधता भी संदिग्ध है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि कई बार, इतिहास-विज्ञान की गणनाओं की तुलना में, जनश्रुति अधिक विश्वसनीय होती है। जनश्रुति के विविध रूपों से यह निश्चय होता है कि पंचसखा वस्तुतः समकालीन थे, यहाँ तक कि कुछ ऐसे भजन भी मिलते हैं जिनमें पंचसखाओं में से प्रत्येक को लेखक-युगल के रूप में दर्ज किया गया है। कुछ पुस्तकों के लेखक अच्युतानंद और जसवंत हैं जिनमें उन्होंने यह उल्लेख किया है कि किस प्रकार पाँचों साधक एक साथ काम करते थे, सब स्थितियों का एक साथ सामना करते थे और किस प्रकार उन्होंने अपने समय की सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों पर अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी है। पंचसखा धार्मिक परंपरा के अनुयायियों और भक्तों में अब भी ऐसे भजन प्रचलित हैं जिनकी रचना पंचसखाओं ने संयुक्त रूप से की है—प्रत्येक कवि क्रम से एक-एक पद लिखता गया है और इस प्रकार पूरे भाग की ध्वजना सम्पन्न हुई है।

यदि हम रचनाधारा के महत्त्व को समझने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों में उसका स्थान निर्धारित करना चाहते हैं तो हम उड़ीसा की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में विद्यमान राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का पूरा चित्र सामने रखना होगा। लगभग इस समय, गंग वंश के कई शताब्दियों के शासन के बाद उड़ीसा पर सूर्यवंशी राजाओं का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। उनसे पहले केसरी, भौम, और गंग हो चुके थे और उनसे भी पहले उड़ीसा के राजवंश में खारवेल हो चुके थे जो उत्तर में मगध के शिशुनाग वंश के समकालीन थे। सूर्यवंश के संस्थापक राजा कपिलेन्द्र देव 1435 में सिंहासन पर बैठे तथा उन्होंने 35 वर्ष तक शान से राज्य किया। उनका राज्य दक्षिण में गोदावरी तक फैला हुआ था। उनके पुत्र श्री पुरुषोत्तम ने पिता की कीर्ति पताका को न केवल ऊँचा रखा अपितु एक कदम आगे बढ़कर कांची के राजा को हराया तथा उनकी पुत्री पद्मावती से विवाह किया। वंश परम्परा में अगले राजा श्री प्रताप रुद्र देव हुए जिनका राज्यकाल और लंबा था—1497 से 1540 तक। सैनिक उपलब्धियों की दृष्टि से तो प्रताप रुद्र देव अपने पूर्वजों की बराबरी न कर सके, परतु उनका शासन काल, उड़ीसा मे धार्मिक-सांस्कृतिक विकास का वैभव युग रहा। उनके शासनकाल मे श्री चैतन्य पुरी मे आए तथा आजीवन वही रहे। राज्य की राजधानी तब पुरी मे थी। उड़ीसा मे, विभिन्न राजाओं और वशो के समय मे राज्य की राजनीतिक राजधानियाँ चाहे कही पर रही हो, पुरी हमेशा ही उड़ीसा का सांस्कृतिक केंद्र रहा है, वहाँ न केवल सांस्कृतिक नवप्रवर्तन और आदान-प्रदान सम्पन्न हुए अपितु उसने अन्य संस्कृतियों को प्रभावित भी किया।

उड़ीसा के सांस्कृतिक इतिहास के लगभग आरभ से ही पुरी, भगवान जगन्नाथ का अधिष्ठान रहा है। अनेक जनश्रुतियों से पता चलता है कि पुरी के मंदिर का समय-समय पर निर्माण तथा पुनर्निर्माण होता रहा है, परतु मंदिर का अधिष्ठाता देवता वही रहा है। पन्द्रहवी शताब्दी के कवि सारळादास ने अपने ओडिया महाभारत मे भगवान जगन्नाथ को स्वय भगवान कृष्ण माना है जिन्होंने, कवि के कथनानुसार, द्वारका का पतन होने पर शरीर त्याग दिया और पुरी के पुरुषोत्तम क्षेत्र के तटवर्ती प्रदेश मे पुन: जन्म लिया, तभी से भगवान जगन्नाथ के रूप मे उनकी पूजा होती है। संस्कृत में लिखित स्कन्द पुराण के उत्कल खंड से भी यह संकेत मिलता है कि भगवान जगन्नाथ, स्वयं कृष्ण वासुदेव ही हैं। स्मरण रहे कि सारळादास ने जगन्नाथ को बुद्ध माना है और बुद्ध को परात्पर देवता, जिसका न रूप है, न भौतिक अवतार। विद्वानों का यह भी अनुमान है कि जगन्नाथ और उसकी पुरी परम्परा आर्यों के भारत-आगमन से पूर्व की है। आर्यों ने उड़ीसा मे आने पर उसे अपना लिया और वह आर्य संस्कृति का अग बन गई।

पुरी भारत की लगभग सभी धार्मिक और सांस्कृतिक धाराओं का संगम

स्थान रहा है। उड़ीसा की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि यह अनेक दृष्टियों से उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत, और आर्यों तथा द्रविड़ों का मिलनबिंदु रहा है। इस मान्यता के पर्याप्त प्रमाण ओड़िया भाषा, लिपि, नृत्यकला, संगीत और सामाजिक रीति-रिवाजों में मिलते हैं। बौद्ध धर्म की तथाकथित उत्तरी और दक्षिणी धाराओं का उड़ीसा में सह-अस्तित्व दिखाई पड़ता है। अनुमान किया जाता है कि सम्राट् अशोक के शासन काल में बौद्ध धर्म के प्रभाव में आने से पहले उड़ीसा के बड़े भाग में जैन मत का प्रसार था। अनेक शताब्दियों से उड़ीसा पर, विशेष रूप से तटवर्ती जिलों पर, तांत्रिक सम्प्रदायों का प्रभाव रहा है। यहां तक कि आज भी उड़ीसा में गोरखनाथ के गीत सुनाई पड़ते हैं और घूमते-रमते भिखारी जिन्हें उड़ीसा में 'जोगिया' कहते हैं, ऐसे गीतों की पंक्तियां गाते फिरते हैं। उड़ीसा में वैष्णव धारा उत्तर से भी आई, दक्षिण से भी। इसके अतिरिक्त, उड़ीसा में शैव और शाक्त धाराएँ भी आईं और कई लोग उनके अनुयायी बने।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सदियों से भगवान जगन्नाथ हमारे देश की लगभग समस्त धार्मिक और आध्यात्मिक परंपराओं के समन्वय के प्रतीक रहे हैं तथा पुरी उनका अधिष्ठान रहा है। यही कारण है कि बड़े-से-बड़े तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध आध्यात्मिक नेताओं ने पुरी में अल्पकालिक प्रवास किया है तथा पुरी को अपने यात्रास्थलों की सूची में रखना आवश्यक माना है। निस्संदेह, यह उन्हीं विद्वानों के योगदान का परिणाम है कि कालांतर में पुरी धार्मिक प्रेरणाओं का स्रोतस्थल बन गया। फलस्वरूप, पुरी में, और इस प्रकार उड़ीसा के सारे धार्मिक मंच पर, साम्प्रदायिक भेदभाव का स्थान सर्वधर्मसमन्वय ने ले लिया। इसकी अभिव्यक्ति सर्वस्वीकरण भाव की ऐसी वृत्ति के रूप में हुई जिसमें व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रवृत्ति ही उसकी आंतरिक निष्ठा का वास्तविक प्रमाण मानी गई—व्यक्ति का संबंध किसी भी सम्प्रदाय से क्यों न रहा हो।

तत्कालीन समस्त दार्शनिक विरोधों के शमन के प्रसंग में देशाटन करते हुए, प्रसिद्ध एकेश्वरवादी-मायावादी विद्वान शंकराचार्य पुरी आये थे। वहाँ उन्होंने एक मठ स्थापित किया था जो आज भी विद्यमान है। रथारूढ़ वामन की स्तुति में रचित प्रसिद्ध संस्कृत पद्य के लेखक शंकराचार्य ही हैं। बारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में चोलवंश के शासन में, द्वैतवादी रामानुज और चौदहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में रामानंद पुरी आये। पंद्रहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध शुद्धा द्वैतवादी विद्वान वल्लभाचार्य भी पुरी आए और उन्होंने अपने मत का प्रचार किया। इस प्रकार पुरी आने वाले कुछ अन्य प्रसिद्ध विद्वान संतों के नाम भी गिनाए जा सकते हैं—पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में कबीर और इसी समय के आसपास गुरु नानक। यह एक रोचक बात है कि वेदांत मत की विभिन्न धाराओं के यायावर संतों ने अपने-अपने मठ पुरी में स्थापित किए जो आज भी फल-फूल रहे हैं। दूसरी रोचक बात यह है कि

कबीर के पुरी आगमन के समय से वहाँ 'कबीर चौरा' भी बना हुआ है जो कबीर के पुरी आगमन की स्मृति को सुरक्षित रखे है। वे सब संत-महात्मा धर्म प्रचार के प्रसग में पुरी नही पहुंचे थे। उदाहरण के लिए, गुरु नानक की ऐसी कोई मंशा न थी। वस्तुत, भारत के आध्यात्मिक केंद्रों मे पुरी के विशेष महत्त्व को देखते हुए ही वे वहाँ आए थे। इसके अतिरिक्त जहाँ पुरी मे वर्ष भर तक चलते रहने वाले उत्सवों के कारण भारत के कोने-कोने से हजारो की संख्या मे तीर्थयात्री पुरी पहुँचते थे, वहाँ विभिन्न मतावलबी तत्त्वदर्शी विद्वानो के विद्वतापूर्ण प्रवचनो से अपने मन-आत्मा को तृप्त करने के इच्छुक जिज्ञासु भी पुरी आते थे। इस प्रकार, विभिन्न स्तरो की जनता के पुरी-प्रेम तथा तत्संबधी महत्त्व के आधार पर यह सहज ही समझा जा सकता है कि मध्य युग मे पुरी, बौद्धिक आदान-प्रदान तथा भावनात्मक सहभागिता के अति उर्वर तथा जीवत केंद्रो मे से एक था। एक ओर तो पुरी के द्वार ऐसे लोगो के लिए खुले रहे जो किसी निश्चित उद्देश्य से अथवा आध्यात्मिक संतुष्टि की तलाश म वहाँ आते थे, तो दूसरी ओर अपने-अपने क्षेत्रो में ख्यातिप्राप्त मत विशिष्ट व्यक्ति वहाँ आते रहे जो किसी विनाशकारी विवाद मे नही उलझे। सबने अपनी-अपनी बात कही, हमेशा उन्हे श्रोता मिलते रहे, और यहाँ की परम्परा के नियमो के अनुसार इस बात का भय न था कि कोई किसी का सफाया ही कर डालेगा। इन गतिविधियों का सबसे अधिक लाभ पुरी को ही हुआ। शताब्दियों तक ऐसी गतिविधियो का जो क्रम निरतर चलता रहा उससे पुरी मे एक ऐसा वातावरण बना जिसकी मूल वृत्ति स्वीकरण और पुष्टि की थी, असमानताओं की अपेक्षा समानता के बिंदुओं की पहचान की थी।

तलाश जहाँ वास्तविक मानवीय एकता को ढूंढा जा सके—मानव के आतंरिक और बाह्य जीवन के वास्तविक सर्वसामान्य मूल उद्देश्य की तलाश। इस अवधि में विद्यमान धार्मिक नेता सब प्रकार के बाह्य रूपवाद के विरुद्ध थे—वे बाह्य रूप जो सत्य को हमारे सामने प्रकट कम करते हैं, छिपाते अधिक हैं, जो मनुष्यों में एकता लाने के स्थान पर उन्हें अलग-अलग करते हैं। इन भक्त कवियों की वाणी में धर्म का स्वरूप वह नहीं रहा जो पहले था—केवल विद्वानों की थाती, एक ऐसी भाषा में कैद जो सबको समझ नहीं आती, एक विशिष्ट जाति और वर्ग की मुट्ठी में बंद, और अपने दृष्टिकोण में एकान्तवादी। उनकी वाणी में धर्म, जीवन में घुल-मिल गया, जीवन ऊँचा उठ गया, वह उन सबका जीवन बन गया जिनके मन में ऊँचे उठने की साधें थीं, चाहे उन पर कैसा भी सामाजिक ठप्पा लगा हो।

तत्कालीन विशिष्ट प्रवाह का जायजा लेने के लिए राष्ट्रीय मंच का विहंगावलोकन हम कर्नाटक के हरिदासों से आरंभ करेंगे जो वहाँ तेरहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक सक्रिय रहे। इस धारा के पहले प्रवक्ता थे श्री नरहरि तीर्थ, जिनके बाद सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक यह धारा चलती रही जिसमें पुरंदर दास और कनक दास भी हुए। हरिदासों में अधिकतर निम्न वर्गों तथा जातियों के थे। सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में हरिदास सम्प्रदाय दो वर्गों में बँट गया—व्यासकूट और दासकूट। व्यासकूटों ने अपनी रचनाएँ संस्कृत में लिखीं और दासकूटों ने बोलचाल की कन्नड़ में। केवल उच्च कुलोत्पन्न हरिदास व्यासकूट वर्ग में थे, जबकि दासकूट वर्ग में सभी स्तरों के लोग थे जिनमें अति निम्न स्तर के लोग भी शामिल थे। उसी युग में एकनाथ, नामदेव और ज्ञानदेव जैसे प्रसिद्ध मराठी संत हुए जो निश्चय ही कर्नाटक के हरिदासों से सम्पर्क में आए होंगे। कहा जाता है कि गुजरात में भी दास परंपरा और वर्णाश्रम रहे। गुजरात के नरसी मेहता और राजस्थान की मीराबाई भी पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए। असम में उनके सदृश यशस्वी विद्वान थे शंकरदेव और माधव देव। हिन्दी भाषी क्षेत्र में वहाँ भक्त मंडली थी—कबीर, रैदास [illegible] । कहा जाता है कि कबीर के एक प्रमुख [illegible] में ही हुआ, और स्वयं कबीर अपने शिष्य [illegible] भी ध्यान देने योग्य है कि बंगाल के श्री [illegible] थे, यद्यपि उनकी वाणी को [illegible] (दास) दे दिया गया। [illegible] ारों के निर्माण और [illegible] म से आया। कुछ साहित्य- [illegible] बौद्ध, गोरखपंथी, और चैतन्य [illegible] ाने वाले देवताओं को बौद्ध विरुद्ध [illegible] था बौद्ध थे—वे बौद्ध सम्प्रदाय के

[illegible] उ योगद [illegible] दिशो [illegible] ते हैं

अंतिम दायित्व पर निर्भर उड़ीसा में कुछ शताब्दियों तक काफी प्रभाव रहा। पंचसखाओं ने भले कुछ पढ़ा था, क्योंकि कबीर की पुस्तक के लिए लिखित रूप साधना का न केवल पूरक कार्य किया है परन्तु वे स्वयं भी उस परम्परा के साधक थे, इसलिए कुछ विद्वानों ने उन्हें बौद्धधर्मावलंबी अथवा नाथपंथी कह दिया है। इसके विपरीत अन्य लोगों ने, जाने क्यों श्री चैतन्य के उड़ीसा आकर प्रचार प्रसार को अत्यधिक महत्त्व देते हुए, पंचसखाओं को चैतन्य सम्प्रदाय में वैष्णव मान लिया है। पंचसखाओं की वाणी की स्पष्ट अभिव्यक्ति से तो यही प्रतीत होता है कि वे परन्तु यह सब कुछ थे जो उन्हें माना गया है। लेकिन सत्य और तथ्य यह है कि वे इन सबसे भी कहीं अधिक कुछ थे। वे अपनी (स्वयं) प्रकृति में तथा अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में परम तत्त्व के आकांक्षी थे। साधना मार्ग पर चलते हुए जिस किसी से भी कुछ मिल सकता, उससे कुछ पाने में वे न हिचकते। जो कुछ वे अपने में समेट सकते थे, समेटते। जिससे कुछ सीखते उसे गुरु मानने में संकोच न करते। परन्तु वे किसी सधीर के फकीर न हुए और न किसी एक सम्प्रदाय से ही जुड़े। उन्होंने गोरखनाथ और तंत्र को स्वीकार कर लिया। इस मायरूपात्मक जगत् से परे एक परम सत्ता के अस्तित्व को, एक निष्ठावान् अद्वैतवादी के समान, उन्होंने स्वीकार किया। जब श्री चैतन्य पुरी में थे तब उन्होंने उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार किया। परंतु अपनी सब गतिविधियों का वास्तविक प्रेरक वे भगवान जगन्नाथ को मानते थे। इसके बावजूद भी सदियों से भगवान जगन्नाथ के साथ सामाजिक स्तर पर जो भावनाएँ जुड़ गई थीं उनकी अनेक अवसरों पर उन्होंने अवहेलना कर दी। उन पाँचों के लिए जगन्नाथ परात्पर देवता तथा परात्पर ब्रह्म थे। परतु एक बात का उन्होंने ध्यान रखा—नामों की विविधता के बावजूद वे ब्रह्म के उपासक बने रहे।

पचसखाओं का जन्म उड़ीसा के अलग-अलग समुद्रतटीय प्रदेशों में हुआ। पुरी आने से पहले उन्होंने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे और अपने ढंग से आत्म-विकास का पथ प्रशस्त किया था। उनमें से प्रत्येक का पोषण उड़ीसा की उस वैष्णव परम्परा में हुआ जिसकी जड़ें उड़ीसा की धरती में थीं। उन जड़ों को जीवन रस की प्राप्ति उन विभिन्न धार्मिक आंदोलनों से हुई जो उड़ीसा में प्रबल हुए और अनेक शताब्दियों तक जनता की धार्मिक अभिरुचियों को प्रभावित करते रहे। पचसखाओं में दो—बलराम और जगन्नाथ—पुरी या उसके निकटतम स्थानों के थे। वे पाँचों तब इकट्ठे हुए जब पुरी में श्री चैतन्य का आंदोलन शासकीय सरक्षण में अपने शिखर पर था। आंदोलन के उत्कर्ष से यही संकेत मिलता है कि धारा के साथ चलना ही एकमात्र विकल्प था। अपनी प्रथम औपचारिक दीक्षा तक पचसखा भी धारा के अनुयायी रहे। परतु वे वहीं तक रुके नहीं। वे सब, विशेष रूप से बलराम और जगन्नाथ, पुरी में पहले से ही भक्त, सिद्धहस्त कवि और लेखक और महान साधक के रूप में प्रख्यात हो चुके थे। उन्हें ऐसा अनुभव होता

था कि उनके सामने एक और लक्ष्य था। अच्युतानंद ने अपनी एक रचना मे बताया है कि किस प्रकार उन्होंने अपने अन्य साथियों के साथ धार्मिक व्यक्तियो तथा उस युग मे प्रचलित विभिन्न कोटियो की धर्मसाधनाओं के नेताओ की एक सभा आयोजित की। ये विभिन्न साधना पद्धतियाँ उस समय इतनी प्रभावशाली न रह गई थी क्योंकि राजा ने चैतन्य आदोलन को अपना पूरा समर्थन तथा सरक्षण देने की घोषणा कर दी थी। पचसखाओं ने यह सभा पुरी के उत्तर मे बीस मील की दूरी पर प्राची नदी के किनारे, इस उद्देश्य से आयोजित नही की थी कि वे अपनी नई समानातर व्यवस्था आरभ कर सकें जिसका उस सभा मे उपस्थित अन्य लोग अनिवार्य रूप से अनुसरण करें। इस सभा मे, सब लोगो को एक विशेष व्यवस्था सम्प्रदाय मे दीक्षित करने के लिए न तो प्रचारात्मक भाषण हुए, न ही जोश-खरोश का प्रदर्शन किया गया। वस्तुत यह उस विशिष्ट शैली मे पुन आस्था प्रकट करने का अवसर था जो युगो से उड़ीसा की धर्मसाधनाओ की विशेषता रही है। शैली का स्वरूप था—सब पद्धतियो के मूल्यवान् तत्त्वो को स्वीकार करो, सब पद्धतियो के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वो को ग्रहण करो, सब पद्धतियो मे समन्वय स्थापित करो; और सबसे बढ़कर, जो मार्ग तुमने अपने लिए चुना है उसका निष्ठा के साथ पालन करो। इससे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाएगी कि सभा के उपरात पचसखा पुरी जाकर शुद्ध चैतन्य मतावलम्बी न हो गए, उन्हे अपने लिए एक पूर्ण मार्ग मिल गया था जिसके विशिष्ट और भेदक बिंदु स्पष्ट थे। चैतन्य आदोलन, उड़ीसा मे बाहर से आया था जिसने अपने तेज प्रवाह मे बहाकर उड़ीसा के राजा को अपना समर्थक बना लिया था, और इस प्रकार यह एक आरोपित एव बाह्य तत्त्व था। पचसखा आदोलन धरती का पुत्र था तथा धरती की परम्परा को आगे बढ़ानेवाला था, उसमे पुन आस्था स्थापित करनेवाला तथा नवीनता के प्रवेश के लिए प्रयत्नशील था। चैतन्य आदोलन की प्रवृत्ति एक अंधड के समान आक्रामक थी जबकि पचसखा आदोलन समन्वय का पोषक और उसे नयी शक्ति देनेवाला था।

पचसखा—बलराम दास भी उनमे शामिल हैं—सकुचित अर्थ मे वैष्णव न थे, ऐसे कट्टर साप्रदायिक वैष्णव जो निषेधाज्ञाएँ जारी करते रहते हैं। वे इस दृष्टि से वैष्णव थे कि वे एक खोज मे लगे थे, उस खोज को सतुष्ट करने के लिए उन्होंने सब ओर से सीखा था; सब बातो को वे एक खोजी और साधक की दृष्टि से देखते थे। उनकी रचनाओं मे ऐसे अनेक केंद्रबिंदु हैं जिनसे प्रकट होता है कि उन्होंने भव्य भारतीय परम्परा के बृहदाकार से बहुत कुछ लिया था। जिस रीति से वे *परम सत्ता की सृष्टि के माध्यम से अभिव्यक्ति की व्याख्या* करते हैं वह वेदो तथा उपनिषदो मे उपलब्ध प्राचीनतम व्याख्या मे अनेक अशो मे समान दिखाई देती है। उनकी रची सरल ओड़िया कविता को पढ़कर यह स्पष्ट आभास होता है कि उन्होंने मूल वैदिक रचनाओ तथा उनके भाष्यो को पढ़ा था तथा उनके प्रतिपाद्य को

ललित काव्यरचना का वाना बहनने की कला में भी वे निपुण थे।

भारतीय साधना के इतिहास में दीर्घकाल तक उग्रता से चले सगुण-
विवाद से सब परिचित हैं जिसमें विवाद का बिंदु यह था कि एक कल्पित म
देवता के माध्यम से परम तत्त्व का साक्षात्कार किया जाए अथवा वह सब
के मूर्त रूपों से परे है। सगुणधारा में एक ईश्वर को तीन देवताओं के रूप में
किया गया और आगे चल कर पुराणों में यह संख्या बहुगुणित होकर लाखों में
गई। मूर्तिपूजा के माध्यम से परम सत्य की खोज की परिणति ऐसी मूर्खता
जड़पूजा के रूप में हुई कि उसकी प्रतिक्रिया में पुनः एकेश्वरवाद की ओर लौ
आंदोलन आरंभ हुआ। सगुण भक्ति की वैदिक, तांत्रिक और बौद्ध धारा
उत्थान और पतन में हमेशा उड़ीसा का योगदान रहा है। उड़ीसा के मं
उत्कीर्ण समृद्ध शिल्पकला से यह प्रमाणित होता है कि उड़ीसा के साधक,
शिव और नरसिंह तथा उनकी पत्नियों की 101 नामों से स्तुति और पू
अन्य किसी भी स्थान के साधकों से पीछे नहीं रहे। अकेले, पुरी के जगन्नाथ
में इन देवी-देवताओं की पूरी शृंखला की झाँकी मिल जाएगी। इससे अति
इन अनुमानों का भी कोई अंत नहीं कि जगन्नाथ त्रिमूर्ति वैदिक है या तांत्रि
जैन या बौद्ध, अथवा यह एक ऐसा प्रतीकात्मक रूपांकन है जो अन्य देवता
निष्प्रयोजन बना देता है।

पंचसखाओं ने राम, कृष्ण, जगन्नाथ, बुद्ध और *ब्रह्मांड—जिसकी खोज*
में की जा सकती है (इस आधार पर बलराम दास के एक ग्रंथ का नाम 'ब्र
भूगोल' है)— सभी, विभिन्न सगुण मतों, और नामों की तथा ब्रह्म की स्तु
गीत गाए हैं। क्या इस कारण उन्हें इन देवताओं का भक्त या सगुण माना जा
ऐसा निर्गुण भक्त माना जाए तो इन मूर्तियों से परे अनंत में उनका ध्यान
स्मरण रहे कि पंचसखाओं ने देवताओं का निषेध नहीं किया, परंतु साथ ही उ
मूर्तिपूजा की कट्टरता का विरोध किया—यह इसलिए कि पूजा मूर्ति तक ही
जाती है। मूर्ति तो केवल साधन है, माध्यम है, लक्ष्य है परम सत्ता का साक्षा
आत्म-साक्षात्कार। सब नामों की मान्यता देते हुए भी बलराम दास ने '
[illegible] से स्वर बलराम से कहलाया है 'मैं केवल ब्रह्मगुण से बना [illegible]
[illegible] सब रूपों से परे है; मैं मुक्त [illegible] हूँ, मैं अनाम
हूँ।'

[illegible]

परमेश्वर के समकक्ष माना है—गुरु परमेश्वर तुल्य है, साधारण मनुष्य नहीं। परंतु मदा की भाँति पचसखाओं ने गुरु की मूर्ति बनाने के विचार का विरोध किया है। पचसखाओ के अनुसार जो गुरु अपने को मूर्ति तुल्य प्रचारित कर-लोगों मे यह भावना भरता है कि वे निस्सहाय-से उसके सहारे जिए, वह सहायक से अधिक बाधक है। गुरु भी एक साधन है, साध्य नही। अच्युतानंद कहते हैं यदि हमे आत्म-साक्षात्कार अभीष्ट है तो हमे उसके योग्य बनना होगा, अपने को पवित्र तथा साक्षात्कार की स्थिति के लिए तत्पर करना होगा। व्यक्ति को स्वय, अपने ही प्रयत्नो से सत्य की खोज करनी होगी, गुरु केवल मार्गदर्शन करेगा, अपना रास्ता बनाने मे आपकी मदद करेगा। पचसखाओ ने बाह्य कर्मकाण्ड का और उसमे बहुत अधिक लिप्त रहने का उपहास किया है। इस दृष्टि से उनमे और मध्यकालीन भारत के अलग-अलग क्षेत्रो मे बसनेवाले साधको मे समानता दिखाई पड़ती है। पचसखा ऐसे समय मच पर आए जब लोग तरह-तरह की कर्मकाडी बखरतो मे लगे हुए थे और एक दूसरे को पीछे छोड देने की होड उनमे रहती थी। यदि आप उस समय पुरी मे होते तो इस अतिशयतापूर्ण प्रदर्शन को देख सकते। विद्वान लोग अपने-अपने शास्त्रो की महिमा का ढिंढोरा पीटते। कुछ पथ ऐसे थे जो अपने कर्मकाण्ड का बढ-चढ कर प्रचार करते क्योकि उन्हे इससे राजा का सरक्षण प्राप्त हो जाता। तत्कालीन राजाओ और रानियो को प्रसन्न करने मात्र के लिए विभिन्न पथो के अनुयायियो की स्पर्धाएँ आयोजित की जाती। धार्मिक प्रवृत्तियो के साधना पक्ष और अनुभूति पक्ष का लगभग सर्वथा अभाव था। यद्यपि पथो के ध्वज जगह-जगह दिखाई पडते और मठो की समृद्धि भी निरन्तर बढती रहती तथापि वास्तविक आकाक्षा और निष्ठा के दर्शन न होते। जादू और तन्त्र के प्रदर्शन तमाशा बन गये थे। इस गदगी को दूर करने के लिए पचसखाओं ने कर्मकाण्ड के खोखलेपन का पर्दाफाश किया और इसके लिए इन्हे शासक और प्रजा दोनो के ही रोष का सामना करना पडा। परन्तु न तो राजा का रोष और न जनता की अप्रसन्नता ही उन्हे अपने मार्ग से डिगा सकी। उन्होने उन झूठे गुरुओ के झूठे आचरणो की भर्त्सना की जो केवल लोगो को धोखा देते थे, विश्वासी साधको को पथभ्रष्ट करते थे और बाह्य कर्मकाण्ड को वास्तविक आत्मसाक्षात्कार मान बैठे थे। पचसखाओ ने साहस के साथ लोगो को बताया: 'केवल भभूत को शरीर पर मल लेने से कोई व्यक्ति ईश्वर का भक्त नही हो जाता। व्याघ्रचर्म पहनने से आप केवल उस जानवर की तरह दिखाई पडेंगे जिसकी खाल आपने ओढ ली है।' उन्होने आगे कहा 'यदि आपने वैष्णव वेश धारण किया है, परन्तु वैष्णव-सिद्धान्त-दर्शन का अनुसरण नहीं करते तो आप वैष्णव मर्यादाओ को भग करने के अपराधी हैं।' उन्होंने अन्त मे कहा: 'हम सभी वेश धारण करें या कुछ और, हम सब ईश्वर के ही भक्त हैं, परन्तु ईश्वर का वास्तविक भक्त तो लाखो मे एक ही होता है।' बलराम ने कहा

है कि हम जो मन में धारण करते हैं महत्त्व उसी का होता है, मंत्र आदि अन्य सब बातें साधनमात्र हैं। इस भावना का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन अच्युतानंद की वाणी में मिलता है : 'यदि मन शान्त नहीं है और उच्चतर उपलब्धियों के लिए तैयार नहीं है तो समस्त योगसाधना और कृच्छ्र साधना व्यर्थ है। मन ही वास्तविक गुरु है, वही गुरु है, वही वास्तविक कर्ता है। मन ही भागवत है, मन ही गीता है। यदि यही साधना के लिए तत्पर और विकासशील नहीं तो अमृत भी कड़वा लगेगा।'

पंचसखाओं ने जिन बातों पर बल दिया वे थीं, उचित मनोवृत्ति, तत्परता, और ग्रहणशीलता। यदि मन में ये सब बातें हैं तो इस चीज का कोई महत्त्व नहीं कि किसने कौन-सा रास्ता अपनाया है और वह किस पंथ का अनुयायी है। मूल बात है निष्ठा, वास्तविक मानदण्ड है आन्तरिक विकास। यदि दृष्टिकोण विशाल हो गया है तो वह इस बात का चिह्न है कि साधक सही दिशा में जा रहा है। मध्य-कालीन भारत के अन्य रहस्यवादी संतों के समान पंचसखाओं ने भी यही कहा कि मुक्ति देनेवाला ज्ञान तुम्हारे हृदय में ही है। तुम्हें इसे खोजना है, इसे पाना है, और अपने जीवन में उतारना है। उन्होंने यह भी कहा कि दिव्यज्ञान कोई दूरस्थ वस्तु नहीं, वह हर मंदिर में विद्यमान है और वह मंदिर हम स्वयं हैं।

इसलिए जिन्हें 'भक्त' कहा जाए वे भक्त हों ही, यह आवश्यक नहीं। अच्युतानंद ने उन पर फबती कसते हुए कहा है, 'ऐसे भी भक्त हैं जो लगातार बुडबुड़ाते रहते हैं, और ऐसे भी हैं जो सबका दिया खा लेते हैं। जादू-टोना करनेवाले भी भक्त कहलाते हैं और बलि देनेवाले भी। झडाधारी घुमक्कड़ों को भी लोग भक्त कहते हैं और शरीर पर मिट्टी या भभूत मलनेवालों को भी भक्त की संज्ञा मिलती है। वास्तविक भक्त तो वह है जिसने दिव्य सत्ता का उचित बोध प्राप्त कर लिया है, और वह भक्त सर्वश्रेष्ठ है जिसने दिव्य सत्ता का वस्तुतः साक्षात्कार कर लिया है।'

इस प्रकार, पंचसखा बाह्यवाद, पंडितवाद तथा प्रदर्शनवाद के विरुद्ध थे। वे निष्ठा के उपासक थे—दिव्यदर्शन की आकांक्षा में निष्ठा, हृदय में निष्ठा तथा साक्षात्कार की तत्परता में निष्ठा। वे भक्त थे, ज्ञानी थे, कर्मशील थे और इसी में जीवन की संपूर्णता मानते थे। उनकी यही आकांक्षा थी कि उनके युग के समाज में जीवन की इसी पूर्णता के प्रभात का उदय हो।

3

ओड़िया रामायण

उड़ीसा में लगभग हर परिवार में आपको ये तीन पुस्तकें प्रायः मिलेंगी—पंद्रहवीं शताब्दी के सारला दास का ओडिया महाभारत, जगन्नाथ दास का ओडिया भागवत, और बलराम दास का ओडिया रामायण। इनमें से पिछली दो पुस्तकें पंचसखा युग की रचनाएँ हैं तथा सोलहवीं शताब्दी की हैं। ये तीनों पुस्तकें मूल रूप में संस्कृत में लिखी गयी थी और भारत की अनंत परम्परा का अंग हैं। भारत की प्रत्येक प्रादेशिक भाषा में इनके एक से अधिक अनुवाद मिलते हैं जो विभिन्न कालखंडों में हुए और वह परम्परा आज तक विद्यमान है। परन्तु उड़ीसा के सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास में उच्च सम्मान प्राप्त ये तीनों ग्रंथ अपने मूल स्रोत का मूलनिष्ठ अनुवाद नहीं। मूल ग्रंथों की विषयवस्तु में भी बड़ी मात्रा में परिवर्धन, परिवर्तन, तथा प्रक्षेपण होता रहा है। इस दिशा में सारला दास का महाभारत एक अग्रणी ग्रंथ है। उन्हें इस बात का श्रेय है कि ओडिया भाषा के विकास में उन्होंने समृद्ध शब्दकोश तथा बिम्ब विधान का योगदान किया और इस प्रकार संस्कृत एवं प्राकृत की जकड़ से छूटने में उसकी मदद की। जगन्नाथ दास के भागवत में तथा बलराम दास के रामायण में उसी परम्परा का पालन हुआ है। ये तीनों ग्रंथ ओडिया साहित्य और ओडिया परिवारों के सम्मानित आभूषण हैं। वे युगातीत हैं—कालक्रम के साथ पुराने नहीं पड़े।

बलराम दास का रामायण 'जगमोहन रामायण' कहलाता है, और यह नामकरण स्वयं लेखक ने किया। लेखक ने ग्रंथ में अनेक स्थानों पर कहा है कि रामायण की रचना की प्रेरणा उन्हें स्वयं भगवान जगन्नाथ से मिली, भगवान का दूसरा नाम जगमोहन भी है, इसलिए उन्होंने इसका नाम जगमोहन रामायण रखा। बलराम आगे कहते हैं कि ब्राह्मणों के मुख से शास्त्र और पुराण सुनने से उन्हें इसी प्रकार का एक ग्रंथ लिखने की प्रेरणा हुई। पुरी में रहने के कारण, वे भगवान जगन्नाथ के मंदिर प्रायः जाते होंगे जहाँ चिरकाल से रामायण, महाभारत और भागवत

[illegible] के [illegible] की [illegible] रही है। [illegible] के [illegible] से [illegible] [illegible] और रामायण का [illegible] हुए [illegible] बताते हैं।

उड़ीसा के अनेक भागों में बलराम दास के जगमोहन रामायण को 'दंडी रामायण' भी कहते हैं। रामायण विशेषज्ञों का कहना है कि [illegible] और [illegible] के अनुसार संस्कृत रामायण के [illegible] लिखे हैं। [illegible] पुरी [illegible] को बलराम [illegible] है और [illegible] कहना है कि रामायण की रचना के समय [illegible] संस्कृत [illegible] के [illegible] बलराम ने स्वीकार किया। यहाँ यह बताना उचित होगा कि [illegible] उड़ीसा उत्तर की अपेक्षा दक्षिण के अधिक निकट था। जिस वंश के राजाओं ने [illegible] उड़ीसा पर राज्य किया वे दक्षिण से आए थे। इस वंश के शासन काल में ही पुरी के भगवान जगन्नाथ मंदिर और कोणार्क के सूर्य मंदिर का निर्माण हुआ। उड़ीसा के अधिकतर सैन्य अभियान दक्षिण की ओर हुए। इन अभियानों के दौरान सांस्कृतिक संपर्क भी बढ़ा। कुछ शताब्दियों तक बौद्ध धर्म के प्रभाव में रहने के बाद उड़ीसा में हिंदू धर्म का जो पुनरुत्थान हुआ, उसे नेतृत्व प्रदान करनेवाले अधिकतर विद्वान तथा धर्माचार्य दक्षिण के थे। शंकराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क तथा अन्य अनेक धार्मिक नेता संस्कृत के प्रकांड विद्वान भी थे।

इसके अतिरिक्त, धर्मग्रंथों का प्रादेशिक भाषाओं में, अधिक उपयुक्त शब्दों में, लोकभाषाओं में, अनुवाद करने का आंदोलन भी वास्तव में दक्षिण भारत की भाषाओं में आरंभ हुआ। इस आंदोलन का आरंभ दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में खोजा जा सकता है। तमिल रामायण के लेखक कम्बन का यही समय माना जाता है। चौदहवीं शताब्दी में तेलुगु रामायण के तीन पाठांतर—रंगनाथ रामायण, भास्कर रामायण, और निर्वचनोत्तर रामायण—सामने आ चुके थे। पंद्रहवीं शताब्दी में तेलुगु महाकवि पोतन का तेलुगु भागवत—श्रीमदान्ध्र भागवत—तैयार हो गया था। पोतन की लगभग समकालीन लेखिका आतुकुरि मोल्ला को चौथी तेलुगु रामायण—मोल्ल रामायण—लिखने का श्रेय प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त, यह भी माना जाता है कि उत्तर भारत में संस्कृत रामायण को जनभाषा में प्रस्तुत करने के जो प्रयत्न हुए उनमें सबसे पहला प्रयत्न बलराम दास का है। तुलसीदास का रामचरित मानस सोलहवीं शताब्दी के अंतिम चरण की रचना है—बलराम दास की रामायण से आधी शताब्दी बाद की। मराठी में संत एकनाथ का भावार्थ रामायण सोलहवीं शताब्दी में और श्रीधर का राम-विजय अथवा रामायण सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की रचनाएँ हैं। उत्तर दिशा में उड़ीसा के निकट पड़ोसी राज्य बंगाल में कवि कृत्तिवास की बाङ्ला रामायण सोलहवीं शताब्दी की पिछली दशाब्दियों में लिखी गयी। यह बात भी जानने योग्य है कि कृत्तिवास के नाम से उपलब्ध बाङ्ला रामायण की हस्तलिखित प्रतियाँ अठारहवीं शताब्दी के अंतिम या उन्नीसवीं शताब्दी से अंतिम वर्षों से अधिक प्राचीन नहीं—ऐसा स्वयं बाङ्ला साहित्य के एक प्रसिद्ध विद्वान का कहना है।

ओडिया भाषा में उपलब्ध, कम-से-कम आज तक मुद्रित रूप में प्राप्त, रामायणों में बलरामदास का 'जगमोहन रामायण' प्राचीनतम है। यहाँ विचित्र रामायण का उल्लेख किया जा सकता है जिसके लेखक हैं सिद्धेश्वर दास—जो एक मत के अनुसार स्वयं सारळा दास ही हैं—पंद्रहवीं शताब्दी की ओडिया महाभारत के लेखक। अन्य विद्वान भाषा के साक्ष्य पर इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि उक्त पुस्तक की रचना सारळादास के दो सौ वर्षों बाद हुई। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इसी पुस्तक ने अठारहवीं शताब्दी आसपास तेलुगु कवियों को इतना अधिक प्रभावित किया कि कम-से-कम पाँच कवियों ने इसका तेलुगु गद्य या पद्य में अनुवाद किया। वह खेद की बात है कि मूल ग्रंथ अभी तक प्रकाशित होकर लोगों के सामने नहीं आया। कहने की आवश्यकता नहीं कि परवर्ती शताब्दियों में ओडिया में राम साहित्य की जो प्रचुर मात्रा में रचना हुई उसे बलराम दास ने ही प्रेरणा प्रदान की। ओडिया साहित्य में रीतिकाल के कवि अवश्य अपवाद रहे—इस काल में संस्कृत काव्यशास्त्र की रूढ़ियों के अंधानुकरण को ही बड़ी बात समझा जाता था तथा काव्यरचना मुख्य रूप से शिल्प विधान और अलंकरण तक सीमित थी। इस अंश को छोड़कर ओडिया के सम्पूर्ण राम साहित्य ने जगमोहन रामायण को अपना आधार ग्रंथ माना है। यह सत्य है कि निकट अतीत में वाल्मीकि रामायण के आधा दर्जन मूलनिष्ठ अनुवाद ओडिया में हुए हैं। परन्तु इन सबसे जगमोहन रामायण का महत्त्व कम नहीं हुआ। जहाँ तक जनसाधारण का प्रश्न है जिसके लिए काव्यानंद की प्राप्ति के एकमात्र स्रोत रामायण, महाभारत, भागवत तथा इसी कोटि के अन्य ग्रंथ हैं, वे जगमोहन रामायण को ही एकमात्र रामायण समझते हैं। यह स्थिति ऐसी ही है जैसे हिंदी भाषी क्षेत्र में प्रत्येक परिवार यह मानता है कि इस धरती पर कोई वाल्मीकि हैं तो वह हैं संत तुलसीदास और कोई रामायण है तो वह है उनका रामचरित मानस।

और न उनके द्वारा संस्कृत में लिखे काव्यों से। ऐसा लगता है कि जैसे सारळा दास और बलराम दास ने इसे आम रास्ते—दाण्ड—पर से, आम लोगों के जीवन के ठीक बीच में से, उठा लिया तथा महान साहित्यिक परम्परा के दो महान ग्रंथों को जनता की भाषा में जनता को प्रस्तुत करने में उनका प्रयोग किया। जगमोहन रामायण के लिए दाण्डी छंद के चयन का इतना अधिक महत्त्व है कि उसे दाण्डी रामायण के नाम से अधिक जाना जाता है। सम्भवतः स्वयं लेखक के समय से ही ग्रंथ का वह नाम पड़ गया था। यद्यपि सारळादास का महाभारत भी उसी छंद में है तथापि उसे दाण्डी महाभारत का नाम नहीं मिला।

यदि बलराम दास ने संस्कृत रामायण का अनुवाद मात्र किया होता तो निश्चय ही उन्हें ओडिया रामायण की रचना में वह उच्च कोटि की सृजनात्मक स्वच्छंदता न मिलती जो उसमें दिखाई पड़ती है। यदि उनकी मंशा ओडिया पाठकों को वाल्मीकि रामायण का अनुवाद मात्र देने की होती तो वह एक पूर्ण मौलिक कवि के समान जगमोहन रामायण जैसी रचना की सृष्टि न करते। उन्होंने वाल्मीकि रामायण से केवल कथा ली है और उसमें भी अपनी योजना के अनुसार कुछ जोड़ा है, कुछ छोड़ा है, और जन-परम्परा, जन-विश्वास, एवं किंवदंतियों से और कहीं-कहीं अपने मन की कल्पनाओं से ग्रंथ का ताना-बाना बुना है। इस सबसे जगमोहन रामायण में एक पूर्णता आई है—वह एक स्वतंत्र कृति बन गया है। जगमोहन रामायण पढ़ते समय पाठक को यह नहीं लगता कि मूल कथा का कोई अंश इसमें से छूट गया है, बल्कि इससे भी अधिक, पाठक को एक सुन्दर मौलिक रचना पढ़ने का आनन्द मिलता है। स्मरण रहे कि बलराम दास ने अन्य अनेक संस्कृत पुराणों से—विशेष रूप से पद्मपुराण, अग्निपुराण और स्कंदपुराण से—स्वतन्त्रतापूर्वक उधार लिया है। प्रतीत होता है कि हर सम्भव स्रोत से कवि ने निस्संकोच सामग्री ली है—सम्भवतः इसलिए कि वह यथासम्भव एक पूर्ण रचना प्रस्तुत कर सके।

जगमोहन रामायण को ओडिया रामायण कहना अधिक उपयुक्त होगा। वास्तव में 'ओडिया रामायण' इस शब्द के प्रयोग से बलराम दास के जगमोहन रामायण का ही बोध होता है। हम कह चुके हैं कि राम की कथा और उनकी लीलाओं पर ओडिया साहित्य के विभिन्न कालों में विभिन्न शैलियों और छंदों में लिखे एक दर्जन रामायण ग्रंथ मिलते हैं। परन्तु केवल बलराम दास का 'रामायण' ही ओडिया रामायण कहलाता है। इसका कारण यह नहीं कि यह ओडिया भाषा में लिखा हुआ है। इसका वास्तविक कारण यह है कि यह ओडिया की एक मौलिक कृति है। संस्कृत के अति प्राचीन काल से विभिन्न भारतीय भाषानुवाद 'रामायण' से उन्होंने अपनी पूजा का अवसर ली है। परन्तु जगमोहन रामायण का स्थान [illegible] और काव्य सौरस्य की दृष्टि, शैली की दृष्टि और परम्परा के बदले के

बलराम दास ने अपनी रामायण को पद्यबद्ध करने मे दाण्डी छद का प्रयोग किया है। सारळा दास के महाभारत मे और सिद्धेश्वर दास के विचित्र रामायण मे भी दाण्डी छंद का प्रयोग हुआ है। बाङ्ला में रामायण और महाभारत के अनुवाद मे, तथा सारळा दास के समय से समय-समय पर उड़िया मे विभिन्न संस्कृत पुराणो के अन्य अनेक अनुवादो मे, दो पंक्तियों वाले पदों—प्रत्येक पक्ति मे चौदह वर्ण—का प्रयोग हुआ है। बलराम दास के समकालीन तथा पचसखाओ में से अन्यतम अच्युतानद ने भी हरिवश पुराण के ओडिया अनुवाद मे चौदह-चौदह वर्णों के दो पक्तियों वाले छंदो का प्रयोग किया है। पंचसखाओ मे एक अन्य जगन्नाथ दास ने, जो ओडिया भागवत के लेखक हैं, नवाक्षरी पद्धति को अपनाया है; इसमे छद दो पक्तियो का होता है, प्रत्येक पक्ति मे नौ वर्ण होते हैं तथा पक्तियो मे अत्यानुप्रास मिलता है। दाण्डी छंद, पद्यात्मक की अपेक्षा संवादात्मक अधिक है। आवश्यक नही कि पक्तियो मे वर्णो की संख्या समान हो—यह सख्या आठ, दस, बारह, चौदह या इससे अधिक भी हो सकती है। परंतु प्रत्येक छद की दोनों क्रमिक पक्तियो मे अंतिम वर्ण समान होंगे, जिससे कविता के सस्वर वाचन मे समान पंक्तियो पर क्रम से पड़नेवाले स्वराघात के कारण काव्यवाचन के अनुतान की निष्पत्ति हो सके।

दाण्डी छद के उद्भव के विषय मे साहित्य के विद्वानो मे विभिन्न अनुमानो को लेकर अलग-अलग मत मिलते हैं। परंतु एक बात पर सब विद्वान सहमत हैं—वह यह कि ओड़िया के दो प्रमुख काव्यों मे प्रयुक्त इस छंद का उद्भव सस्कृत मे नही हुआ। जगमोहन रामायण तथा उसके लेखक के एक विशेषज्ञ ने बताया है कि दाण्डी छंद का मूल लोक परम्परा मे है। उस समय साहित्यिक कृतियो, विशेष रूप से धार्मिक प्रकृति की रचनाओ, का वाचन न होकर गायन होता था। समय बीतने के साथ-साथ गद्य सवादो मे कुछ परिवर्तन हो जाता था जिससे पद्योचित सरसता के साथ उन्हे गाया जा सके। गद्य को, विशेष रूप से संवादात्मक गद्य को, जो प्राचीनकाल की लोक साहित्य की रचनाओ मे नाटकीय पात्रों द्वारा सवाद के लिए प्रयोग में लाया जाता था, नाटकीय पात्र वास्तव मे कविता की शैली मे प्रस्तुत करते थे। संवाद अधिक उपयुक्त और नाटक जैसा लगे, इस दृष्टि से संवाद की अतिम पंक्तियों मे समान वर्णों का प्रयोग होता था। जात्राओ और जनोत्सवों की कथाओ मे प्रयुक्त सवाद, जो उस समय उडीसा मे प्रचलित थे और लोक परम्परा मे आज भी प्रचलित हैं, गाने मे अथवा सस्वर उच्चारण के समय दाण्डी छंद जैसे मालूम होते हैं। सम्भव है कि सारळा दास और बलराम दास ने जो इस छद का प्रयोग किया है वह इसलिए कि यह उन्हे सरलता से उपलब्ध हुआ होगा और उन्होने सोचा होगा कि इसके प्रयोग से उनकी रचनाएँ सीधे आम आदमी तक पहुँचेंगी। इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि दाण्डी छंद न तो पण्डितो से लिया गया

और न उनके द्वारा संस्कृत में लिखे काव्यों से। ऐसा लगता है कि जैसे सारला दास और बलराम दास ने इन आम मार्गों—शब्द—पद से आम लोगों के जीवन के ठीक बीच में से, उठा लिया तथा महान साहित्यिक परम्परा के दो महान ग्रंथों को जनता की भाषा में जनता को प्रस्तुत करने में उनका प्रयोग किया। जगमोहन रामायण के लिए दाण्डी छंद के चयन का इतना अधिक महत्त्व है कि उसे दाण्डी रामायण के नाम से अधिक जाना जाता है। वस्तुतः स्वयं लेखक के समय से ही ग्रंथ का यह नाम पड़ गया था। यद्यपि सारलादास का महाभारत भी उसी छंद में है तथापि उसे दाण्डी महाभारत का नाम नहीं मिला।

यदि बलराम दास ने संस्कृत रामायण का अनुवाद मात्र किया होता तो निश्चय ही उन्हें ओडिया रामायण की रचना में वह उच्च कोटि की सृजनात्मक स्वच्छंदता न मिलती जो उसमें दिखाई पड़ती है। यदि उनकी मंशा ओडिया पाठकों को वाल्मीकि रामायण का अनुवाद मात्र देने की होती तो वह एक पूर्ण मौलिक कवि के समान जगमोहन रामायण जैसी रचना की सृष्टि न करते। उन्होंने वाल्मीकि रामायण से केवल कथा ली है और उसमें भी अपनी योजना के अनुसार कुछ जोड़ा है, कुछ छोड़ा है, और जन-परम्परा, जन-विश्वास, एवं किंवदंतियों से और कहीं-कहीं अपने मन की कल्पनाओं से ग्रंथ का ताना-बाना बुना है। इन सबसे जगमोहन रामायण में एक पूर्णता आई है—वह एक स्वतंत्र कृति बन गया है। जगमोहन रामायण पढ़ते समय पाठक को यह नहीं लगता कि मूल कथा का कोई अंश इसमें से छूट गया है, बल्कि इससे भी अधिक, पाठक को एक सुन्दर मौलिक रचना पढ़ने का आनन्द मिलता है। स्मरण रहे कि बलराम दास ने अन्य अनेक संस्कृत पुराणों से—विशेष रूप से पद्मपुराण, अग्निपुराण और स्कंदपुराण से—स्वतन्त्रतापूर्वक उधार लिया है। प्रतीत होता है कि हर सम्भव स्रोत से कवि ने निस्संकोच सामग्री ली है—सम्भवतः इसलिए कि वह यथासम्भव एक पूर्ण रचना प्रस्तुत कर सकें।

जगमोहन रामायण को ओडिया रामायण कहना अधिक उपयुक्त होगा। वास्तव में 'ओडिया रामायण' इस शब्द के प्रयोग से बलराम दास के जगमोहन रामायण का ही बोध होता है। हम कह चुके हैं कि राम की कथा और उनकी लीलाओं पर ओडिया साहित्य के विभिन्न कालों में विभिन्न शैलियों और रूपों में लिखे एक दर्जन रामायण ग्रंथ मिलते हैं। परन्तु केवल बलराम दास का रामायण ही ओडिया रामायण कहलाता है। इसका कारण यह नहीं कि यह ओड़िया भाषा में लिखा हुआ है। इसका वास्तविक कारण यह है कि यह ओडिया की एक मौलिक कृति है। संस्कृत में अति प्राचीन काल में लिखित जातीय महाकाव्य 'रामायण' से उन्होंने अपनी मूलकथा अवश्य ली है। परन्तु जगमोहन रामायण का सारा परिवेश और काव्य संवेदना की प्रकृति, उड़ीसा की संस्कृति और परम्परा से गहराई के

साथ जुड़ी हुई हैं। सबसे पहले इस ग्रंथ मे आये स्थानों के नाम देखें। यह देखकर आपको आश्चर्य हो सकता है कि वाल्मीकि अपने समय मे कभी उस भूखंड के सपर्क मे आये होगे जो बाद मे उडीसा कहलाया। यही बात उचित प्रतीत होती है कि शायद उन्हे इस नाम के भूखण्ड का कुछ पता ही न हो। उड़ीसा की वर्तमानकालीन सीमाओ मे केवल दण्डकारण्य ऐसा स्थान है जिसका वाल्मीकि रामायण मे वर्णन है। यह सत्य है कि ज्यो-ज्यों भारत की महान परम्परा मे इस महान ग्रंथ को आदर का स्थान प्राप्त होने लगा त्यो-त्यो समय के साथ-साथ उडीसा मे स्थानीय स्तर पर अनेक कथाएँ रामायण से जुडने लगी और उडीसा के कुछ स्थानो के नाम उसमे आने लगे। सारळादास के अनुकरण पर, बलराम दास ने अपनी रामायण मे यह एक नियम-सा बना लिया है कि मूल कथा की सीमा को लाँघकर अपने समकालीन उडीसा को अपने ग्रंथ मे यथासम्भव अधिक-से-अधिक समाविष्ट किया जाए।

इसलिए इसमे कोई आश्चर्य नही कि जगमोहन रामायण, सोलहवी शताब्दी के उड़ीसा के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास का काव्यमय विवरण हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इस ग्रंथ मे अयोध्या का स्थान उड़ीसा ने ले लिया है। निर्वासित राम जिन वनों मे घूमते हैं, वे उड़ीसा के हैं। पहाड़ियाँ, नदियाँ और झीलें उड़ीसा की हैं। यहाँ तक कि वार्षिक ऋतुचक्र भी उड़ीसा का ही है। बलराम दास ने बड़ी सावधानी के साथ उड़ीसा मे पाये जानेवाले पशु-पक्षियो और वनस्पतियो के नामो की लम्बी सूची दी है। आरण्यक काड मे, बलराम दास के राम अपने चौदह वर्ष के वनवास मे भारतवर्ष के जिन तीर्थ स्थानो का भ्रमण करते हैं, उनमे से अधिकतर उड़ीसा मे हैं। वह चन्द्रभागा नदी पर आते हैं जो कोणार्क के सूर्यमन्दिर के निकट समुद्र मे गिरती है। वे एकाम्र तीर्थ पर भी आते हैं। यह उस स्थान का नाम है जिसके द्वारा पौराणिक कथा परम्परा मे भुवनेश्वर और उसके शिव मंदिर का संकेत मिलता है। जगमोहन रामायण मे भगवान शिव के आवास का नाम कैलाश पर्वत ही है परन्तु यह पर्वत, संस्कृत रामायण के वर्णन के अनुसार, हिमालय पर नहीं है, अपितु यह उड़ीसा के ढेंकानाल जिले की कपिलास पहाड़ी है जिसके शिखर पर न जाने कब से एक शिव मंदिर बना है जहाँ पर तीर्थयात्री, उसे अत्यन्त पवित्र स्थान मानकर, बड़ी संख्या मे आते हैं। मध्यवर्ती और पश्चिमी उड़ीसा के जंगली और पहाड़ी क्षेत्रों के नामो का उपयोग बलरामदास ने वनवास की कहानी बताने के लिए किया है—इन्हीं स्थानों पर निर्वासित राम, सीता और लक्ष्मण घूमते व और रहते थे। आप चाहें तो इस बात पर विश्वास कर सकते हैं कि जब भगवान राम अपनी सेना के साथ सीता का उद्धार करने के लिए रावण से युद्ध करने गए तब उन्होंने अपने पड़ोस मे रहनेवाले उड़ीसा के आदिवासियों को ही अपनी सेना मे भर्ती किया था। इस कथन में तो स्पष्टतः कोई [illegible] नहीं [illegible] है कि बलराम दास की रामायण के रावण ने [illegible] के लिए [illegible]

इसे अर्जित करने के निमित्त जिस स्थान पर घोर तपस्या की उसका नाम जाजपुर था जो लेखक के समय में देवी विरजा का आवास था और अब शाक्त साधना का प्रसिद्ध केन्द्र है। तथापि कल्पना की इन उड़ानों से हम निष्कर्ष पर पहुँचना उचित न होगा कि बलराम दास को स्थानों के बीच दूरी का और भूगोल के ब्यौरों का आरम्भिक ज्ञान भी सचमुच न था। हमें लेखक की मंशा के बजाए उसके द्वारा किये गये परिवर्तनों पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए जिनका उद्देश्य था उडीसा को इस महान ग्रंथ के धाम का श्रेय देना और यह अहसास कराना कि उडीसा रामकथा के कितना निकट है तथा रामकथा उसके लिए कितनी जानी-पहचानी है। एक भक्त और साथ में कवि होने के कारण बलराम कर भी यही सकते थे। इसलिए जगमोहन रामायण में, बलराम कालीन सांस्कृतिक इतिहास को छोडकर, सामाजिक इतिहास और भूगोल के चिह्न ढूँढना उचित न होगा—उस प्रकार जिस प्रकार विद्वानों ने वाल्मीकि रामायण में ढूँढे हैं। जगमोहन रामायण को एक साहित्यिक कृति मानकर और अपने समय के सामाजिक जीवन को प्रतिफलित करनेवाली कविता मानकर ही हम उसका सर्वश्रेष्ठ उपयोग कर सकते हैं। सारळा दास और बलराम दास इतिहासकार और भूगोलविद् न थे, वे मूलत: कवि थे, उनकी आत्मा अपने आराध्य को समर्पित थी।

जगमोहन रामायण में जिस अयोध्या का वर्णन है वह उडीसा है। रामायण के नायक राम इस प्रकार विहार करते हैं जैसे वे उडीसा में ही थे, यद्यपि जिन घटनाओं का उनके सबध में वर्णन है वे वाल्मीकि की सस्कृत रामायण से ली गयी है। राम और रावण, एव दोनों की सेनाओं के बीच युद्ध का जो वर्णन है उसमें युद्ध का क्षेत्र उडीसा का ही कोई स्थान प्रतीत होता है। सेनाएँ उन्हीं अस्त्रों तथा शस्त्रों का प्रयोग करती है जो बलराम के समय में उड़ीसा के सैनिक करते थे, युद्धकालीन व्यूह-रचनाएँ तथा युद्ध से पूर्व आमने-सामने खडे होने की विधि भी बलराम के समय की है। यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि बलराम दास ने, जो मूलत: भक्त और साधक ही थे, क्या सोचा जो वे सुदूर लका से राक्षसों को उड़ीसा में अयोध्या के राजकुमार राम से युद्ध कराने ले आए? यह सब एक कवि ही कर सकता है—सफलतापूर्वक, प्रसग की स्वाभाविकता को सुरक्षित रखते हुए।

पात्रों की वेषभूषा उडीसा की है; विभिन्न भूमिकाएँ करनेवाले पात्रों के परिधान बलराम के समकालीन उडीसा के हैं। महिलाएँ जिन आभूषणों का व्यवहार करती है वे न तो लका में होते हैं, न मिथिला और अयोध्या में। लोग जो भोजन खाते हैं वह उडीसा के घरों से परसा प्रतीत होता है। विजय प्राप्ति के बाद जब राम अयोध्या लौटे तो हर्ष के उस अवसर पर आयोजित भोज में तत्कालीन उडीसा में प्रचलित पाक कला का चमत्कार दिखायी पडता है। अयोध्या, मिथिला, और किष्किंधा में जो त्योहार मनाये गये हैं वे सब उड़ीसा के हैं—कुछ में तो सूक्ष्म

कहीं भी स्थानीय प्रथाओं के अनुसार है। आरण्यक कांड में बलराम दास ने [illegible] के साथ युद्धों की पारम्परिक एवं विशेष शैली के ओर प्रस्तुत किए हैं तथा बताया है कि किस प्रकार युद्ध की [illegible] की जाती थी, युद्ध क्षेत्र में जाते थे सैनिकों को नगाड़े तथा तुरही कवच आदि अस्त्र-शस्त्र से लैस होते थे।

अयोध्याकाण्ड रामायण में मिथिला का दृश्य देखिए। राजा जनक की पुत्रियों का अयोध्या के चार राजकुमारों से विवाह सम्पन्न हो रहा है। आश्चर्य यह है कि सारा मिथिला ही नहीं अपितु उड़ीसा भी इस विवाह समारोह में भाग ले रहे हैं। विवाह संस्कार व विधि-विधान के सूक्ष्म ब्योरों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है। विवाह की तैयारी, विवाह के बाद वधू का वर के साथ वापस आना, मधुयामिनी —सभी कुछ उड़ीसा में प्रचलित परिपाटी के अनुसार है।

संस्कृत रामायण में कवि वाल्मीकि ने राम के जीवन और कार्यों का ऐसा वर्णन किया है जो उनके अनुसार उनके मन के आदर्श पुरुषों के अनुरूप है। इसके विपरीत दाण्डी रामायण में राम, स्वयं भगवान के अवतार हैं—इसी रूप में बलराम दास उन्हें पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि वाल्मीकि ने राम को एक वैभवशाली चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया है न कि ऐसे अवतार के रूप में जो पृथ्वी पर दुष्टों का दमन करने के लिए अवतीर्ण हुए हों। बलराम दास के रामायण में राम के अनेक चरित्र एक साथ प्रकट हुए हैं—अवतार, निर्वासित राजकुमार, और प्रजापालक एवं धर्मनिष्ठ राजा। वे एक साधारण मानव भी हैं—जीवन के उतार-चढ़ाव से प्रभावित होते हैं; कठिनाइयों को सामने देखकर एक बार तो हैरत में पड़ ही जाते हैं। उनकी जीवन शैली एक निश्चित साँचे में ढली नहीं है जैसी प्रायः एक आदर्श पात्र के लिए पूर्व निर्धारित रहती है, अपितु एक साधारण मानव के जीवन के समान विविधताओं से भरी है।

लंका के राजा द्वारा सीता के अपहरण के बाद राम एक साधारण व्यक्ति के समान अपने दुर्भाग्य पर विलाप करते हैं तथा भाग्य को कोसते हैं। यहाँ हमें एक ऐसे दुःखी और संकटग्रस्त पति का चित्र दिखायी पड़ता है जिसकी पत्नी को उससे छीन लिया गया है। राम अपनी इस विफलता के लिए अपने को धिक्कारते हैं कि वे सीता को वह खुशी न दे सके जिसकी एक पत्नी को अपने पति से आशा होती है। जब सीता को अयोध्या में रानी के समान शान से रहना था तब उसे अपने निर्वासित पति का साथ देने के लिए जंगल में जाना पड़ा। यहाँ तक कि वनवास की पूरी अवधि भी वह अपने पति के साथ न रह सकी, और एक दुष्ट राक्षस ने उसका अपहरण कर लिया। राम अपने दुर्भाग्य पर विलाप करते हुए कहते हैं कि स्रष्टा ने उन्हें एक पौरुषहीन पुरुष बनाया है; अधिक अच्छा होता कि वे उनके (राम के) स्थान पर एक वृक्ष की सृष्टि कर देते। वृक्ष का कुछ उपयोग तो होता; उससे

[illegible] है कि [illegible] पानी और [illegible] इस प्रकार [illegible] [illegible] दिया। [illegible] को [illegible] है कि [illegible] है कि उन्हें राम की सीता का [illegible] की सुध भी नहीं।

[illegible] एक कुटिया की तलाश करते राम, लक्ष्मण और सीता का दृश्य सामने प्रतीत होता है —वे उसी प्रकार परिश्रम करते हैं जिस प्रकार [illegible] कोई भी अन्य लोग। खाना पकाने की भट्टी बनाने के लिए राम पत्थर [illegible] लाते हैं। लक्ष्मण पानी लाने पास के एक झरने पर जाते हैं, और वह सब पत्थर की मदद से आग जलाते हैं। अयोध्या में रहती सीता एक आदर्श गृहिणी है, राज्य के स्वामी—अपने पति—की योग्य सहधर्मिणी है और उस जीवन परम्परा के अनुरूप है, जिसकी वह स्वयं अंग है। वन से अयोध्या लौटने पर राज्याभिषेक के तुरन्त बाद, राम ने अपनी सम्पूर्ण वानर सेना तथा अन्य विशिष्ट आमन्त्रितों के लिए, जिनमें कुछ राजा भी थे, एक भोज का आयोजन किया। उनके आतिथ्य के लिए रानी सीता स्वयं आतिथेय बन गयी। उड़ीसा के ग्रामीण अंचल में यह परम्परा है कि गृहस्वामिनी अपने अतिथियों के लिए स्वयं भोजन बनाती है तथा उन्हें परसती है, बलराम ने उसी परम्परा में सीता को अपने हाथ से खाना बनाते तथा अतिथियों को परसते दिखाया है। अतिथियों को भोजन कराने के बाद वे अपने पति को तथा परिवार के अन्य सदस्यों को भोजन परसती हैं। उदार आतिथ्य के बावजूद आतिथेय को शिष्टाचारवश नम्रता का प्रदर्शन करना होता है—इसके अनुसार बलराम, राम से कहलाते हैं: 'हम वनवास से कल ही लौटे हैं। समुचित व्यवस्था करने और आवश्यक परिमाण में सामान इकट्ठा करने के लिए हमें पर्याप्त समय नहीं मिल पाया। मैं आभारी हूँ कि आप कष्ट उठाकर हमारे घर आये और हमें अनुगृहीत किया। असुविधा के लिए क्षमा करें।'

सीता केवल रानी न थी, वह भगवान के अवतार राम की सहधर्मिणी भी थी। तथापि बलराम यह न भूले कि सीताजी एक संयुक्त परिवार की सबसे बड़ी बहू है। सीता पहले अपनी सास को भोजन कराती हैं और फिर अपनी तीनों बहनों के साथ, जो उन्हीं के समान उस घर की बहुएँ भी हैं, भोजन करती हैं। इसके बाद सास की बारी आती है बहुओं की सुध लेने की। वह अपनी बहुओं को वही स्नेह देती है जो उसे अपनी बहुओं से प्राप्त होता है। परन्तु जैसा कि हर संयुक्त परिवार में होता है, अयोध्या के राजघराने में मतभेद और झगड़े होते हैं। आपसी ईर्ष्या और कलह के अवसर आते हैं। रामायण के पाठक को इन सबमें कोई हैरानी या उलझन महसूस नहीं होती—यह तो उसके घर में रोजमर्रा की बात है। राज-

घराने मे चलनेवाले झगडो-टटो का एक उदाहरण देखिए। सीता ने इच्छा प्रकट की कि वह पुनः वन जाकर ऋषि-मुनियों के आश्रम मे उनके दर्शन करेंगी तथा उन्हें पत्र-पुष्प अर्पित करेंगी। यह बात तब की है जब सीता वनवास का निर्वासन समाप्त कर तथा अग्निपरीक्षा मे उत्तीर्ण होकर अयोध्या की रानी बन चुकी थीं, परन्तु उनकी विधवा सास का शासन तब भी पहले जैसी कठोरता से चलता था। बलराम दास के अनुसार, सीता जी की साढ़े सात सौ सासें उनकी उपर्युक्त इच्छा की बात जानकर उनके विरोध मे उठ खड़ी हुईं : 'तुम अपनी सासो और बड़ो के आदेश की अवहेलना कर रही हो। पुरुषो के सग वनो मे घूमते रहने से तुम्हारी बुद्धि और लज्जा नष्ट हो गयी है। सीता बहुत चालाक हो गयी है। राम को उसने अपनी मुट्ठी मे कर लिया है—मियाँ की अकेली दुल्हन जो है। राम उससे क्षण भर भी अलग नहीं रह सकता। इस समय उसका घमण्ड इसलिए भी बढ गया है कि वह अब माँ बननेवाली है।' सब हगामा इसलिए हुआ कि कौशल्या ने सीता को ऋषि-दर्शन के लिए वन जाने की अनुमति न दी थी और बिना उसके सीता की इच्छा पूरी न हो सकती थी।

कुल मिलाकर नारी के प्रति बलराम दास के दृष्टिकोण मे अतर्विरोध मिलता है। उन्होंने नारी की बड़ी महिमा गायी है— पुरुष की जीवन सगिनी नारी की। बलराम कहते हैं, ससार की सब वस्तुओ से सर्वश्रेष्ठ तत्व लेकर ब्रह्मा ने नारी का निर्माण किया है। उसके अधरो पर अमृत है, मुखड़े पर चन्द्रमा है, तथा नेत्रो मे कामदेव के बाण हैं। उसके बाह्य रूप के समान उसके अतर मे भी उच्च गुणो का वास है। यद्यपि उसे 'अबला' कहा जाता है, उसकी आतरिक शक्ति की कोई सीमा नही। अब बलराम की नारी विरोधी भावना का, जो सम्भवतः स्त्रियों के प्रति तत्कालीन समाज की धारणा का परिचायक है, एक प्रसग देखिये, सीता को निर्वासित करने के लिए बाध्य होने पर दुःखी राम को सात्वना देते हुए लक्ष्मण कहते हैं : 'यदि स्त्री के कारण वश पर लाछन आये तो उस पर विश्वास नही किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे पुरुष को दूर ही रहना चाहिए। स्त्री पर पूर्ण विश्वास कभी नही किया जा सकता। विपक्ष के हाथ मे पड़ने पर स्त्री अपने कुल के भेद देने मे नही हिचकती और इस प्रकार हानि और विनाश की स्थिति पैदा कर देती है।' कहने की आवश्यकता नही कि ऐसे प्रसगो में बलराम दास का नारी-विषयक चिंतन तत्कालीन पुरुष-प्रधान समाज से प्रभावित दीखता है।

बलराम दास पुरी के रहनेवाले थे और बचपन से ही पुरी को जानते थे। उन्हें वहाँ के पेशेवर पुरोहितो के हथकडों की निश्चय ही अच्छी जानकारी थी जो पुरी मे भगवान की पूजा के लिए दूर-दराज से आये भोले-भाले तीर्थयात्रियो को ठगने के लिए काम मे लाते थे। यह बात तब भी उतनी ही घृणित रही होगी जितनी अब है। निश्चय ही अन्य तीर्थ स्थानो पर भी ऐसा ही होता होगा।

वनवास की अवधि में यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए राम गया भी जा पहुँचे जहाँ यह परम्परा है कि लोग अपने स्वर्गीय का श्राद्ध करने आते हैं। राम ने भी गया आकर परिवार के स्वर्गस्थ पूर्वजों की मुक्ति के लिए श्राद्ध किया। वे भी वहाँ के ब्राह्मण की लोभवृत्ति का शिकार होने से न बच सके—ब्राह्मणों का वहाँ की पूजा व्यवस्था पर एकाधिकार जो था। पूजा का विधिविधान समाप्त होने केबाद ब्राह्मणों ने राम को घेर लिया और लगे पैसे माँगने। अपनी माँग का पैसा पाये बिना वे उन्हें जाने देने को तैयार न थे। राम तो घुमक्कड़ थे, पैसा उनके पास था नहीं, वे चाहते थे कि उनकी हालत को देखते हुए उन्हें छूट मिल जाये। परन्तु पंडे भला कहाँ छोड़नेवाले थे, बोले : 'हमें मालूम पड़ा है कि आप राजकुमार हैं और राजघराने से आपका संबंध हैं। इसीलिए हमे देने के लिए आपके पास पैसा तो होगा ही; पैसा न हो तो बदले मे कोई चीज दे सकते हैं। ऐसी कंजूसी दिखाकर आप यहाँ से भाग नहीं सकते।' वे यह मानने को तैयार न हुए कि यजमान राम के पास पैसा नहीं है। उन्हें लगा कि गया जैसे पवित्र स्थान पर झूठ बोलकर वह पैसे देने से कतरा रहे हैं। उनकी नज़र सीता के उन आभूषणों पर पड़ी जो सीता ने पहन रखे थे। उन्होंने कहा कि अन्य तीर्थयात्रियों के समान यदि राम भी दक्षिणा देना चाहते हो और गया जैसे पवित्र स्थान पर श्राद्ध हेतु आकर पूरा विधान किये बिना न जाना चाहते हो तो सीता के आभूषणों को ही दक्षिणा में दे दें।

राम ने समझाया कि जो आभूषण सीता ने पहन रखे हैं वे तो सीता के हैं, उनके नहीं। यह बड़ी ग़ैर-मर्दानगी की बात होगी कि जिस काम के लिए उन्हें अपनी कमाई में से खर्च करना चाहिए उसके लिए वे सीता के गहनों का इस्तेमाल करें। राम ने कहा कि ऐसा करके तो उन्हें कोई खुशी न होगी। राम ने सोचा कि अब तो बात खतम हुई और वे चलने को तैयार हुए। परन्तु पंडे इतनी आसानी से पीछा छोड़ने वाले नहीं थे। वे उन तीनों के पीछे हो लिये, लाठी-डंडों से उन्हें धमकाने लगे और जबरदस्ती करने के इरादे से उनके पहने गेरुआ वस्त्र खींचने लगे। राम ने इस पर भी अपना धर्म न छोड़ा और सोचा कि यदि हम चाल तेज कर दें तो पंडे पीछे रह जायेंगे और लौट जायेंगे। बलराम दास कहते हैं कि लालच के मारे पंडे कुछ मील तक उनका पीछा करते ही रहे और जब उन्हें लगा कि इन हठी तीर्थयात्रियों से कुछ मिलनेवाला नहीं है तो हारकर उन्होंने अपना आखिरी दाँव खेला—उन्होंने सीता को पकड़ लिया। उन्होंने जबरदस्ती सीता के आभूषण उतारने की कोशिश की। बलराम दास उस प्रसंग का एक प्रत्यक्षदर्शी के समान वर्णन करते हुए कहते हैं कि चार लोगों ने सीता को कंधों को पकड़ा हुआ था। बदतमीज़ी की हद थी। सीता आर्तनाद करने लगी। राम ने सीता को उनसे छीन लिया और एक महिला के साथ दुर्व्यवहार करने के लिए ब्राह्मणों को डाँट पिलाई। इस पर भी पंडे सीता को छोड़ने के लिए तैयार न हुए और आक्रम

दक्षिणा की राशि के तौर पर सीता के गहनों की माँग पर डटे रहे।

राम ने इसका विरोध किया और पंडों से कहा कि उन्हें जो करना हो वह परिवार के मुखिया एक पुरुष के साथ करें ; एक औरत से उनकी यह बदतमीज़ी ठीक नही। बेबस सीता पूरी ताकत के साथ राम से चिपट गयी जिससे लोभी ब्राह्मण उसके गहने न छीन सकें। हालत यह हो गयी कि सीता की पहनी हुई साड़ी का एक छोर राम के पास था और दूसरा दुराग्रही ब्राह्मणों के। ब्राह्मणों के चंगुल से सीता को छुड़ाने का राम के सामने एक ही रस्ता रह गया था—वे लक्ष्मण से कहते कि साड़ी को बीच में से तलवार से काट दो। लक्ष्मण ने आज्ञा का पालन किया। अब सीता के शरीर पर आधी साड़ी लिपटी थी—इसने लक्ष्मण के क्रोध को भड़का दिया और उनके हाथ धनुष-बाण की ओर बढ़ चले। परन्तु ब्राह्मण अपनी-सी करने पर उतारू थे—यह देखकर लक्ष्मण ने उन्हें धमकी देकर आगे बढ़ने से रोक दिया। लालची पंडों ने अपना पैंतरा बदला—वे अब उनकी बदनामी पर उतर आये। सब मिलकर चिल्लाने लगे कि दो बदमाश बुरी नीयत से एक सुंदर जवान औरत को भगाये ले जा रहे हैं। उन्होंने दोनों भाइयों को 'अपहरण-कारी' कहा जो उस औरत को उसके घर से उड़ा लाये हैं और अब उसे साझी पत्नी बनाकर रखना चाहते है।

इस प्रकार अपने इरादों में विफल होकर बदला चुकाने की नीयत से पंडे लोगों ने राम और लक्ष्मण पर लांछन लगाया कि वे भोले-भाले लोगों को ठगने के लिए संन्यासियों का वेश धारण किये है। अब जाकर राम को क्रोध आया। उन्होंने पंडों को फटकारते हुए कहा कि ऐसे दुर्नाम असत्य प्रचार करने वालों को सच्चा ब्राह्मण नही कहा जा सकता। महिलाओं के साथ इस कदर नीच हरकत करनेवाले वे झूठे अब राम की क्रोधाग्नि से न बच सके। राम को निश्चय हो गया कि तीर्थ-स्थलों पर पुरोहिताई करनेवाले ब्राह्मण लोग लालच के शिकार होकर सच्चे ब्राह्मण नही रह पाते। ब्राह्मणों पर राम का शाप पड़ा कि वे हमेशा गरीब रहेंगे और तंगी में गुज़ारा करेंगे। घर भरा होने पर भी वे भीख माँगेंगे। गिरते-गिरते हालत यहाँ तक पहुँचेगी कि ब्राह्मणोचित वृत्ति को छोड़कर व्यापार की ओर प्रवृत्त होंगे तथा अपने उच्च पद से गिरकर वैश्य के स्तर पर आ जायेंगे, यहाँ तक कि पैसे की खातिर वे अपने बच्चों तक को बेचने को तैयार हो जायेंगे।

प्रश्न उपस्थित होता है कि अपनी रामायण में परमेश्वर के अवतार के रूप में चित्रित राम के मुँह से बलराम दास ने ब्राह्मणों के विरुद्ध ऐसी कठोर वाणी का प्रयोग क्यों करवाया। स्थिति यह है कि बलराम दास के समय में भारतीय वर्णव्यवस्था में गिरावट आने लगी थी और वर्णों का अधिक्रम बिगड़कर नये क्रम में बदलने लगा था। उच्चतम वर्ण का समाज, जनजीवन को नेतृत्व प्रदान करने और उसे धर्म-निष्ठ बनाये रखने के अपने दायित्व से विमुख होने लगा था। पुरोहितों ने मंदिरों

को धोखों के अड्डे में बदल डाला था और शासन की कृपा केवल चाटुकारों को ही मिल पाती थी। ये चाटुकार व्यक्तिगत स्वार्थ और अधिक लाभ के लिए जन साधारण तथा विशिष्ट वर्ग दोनों को यह विश्वास दिलाने में सफल हो गये कि मानव राजा को सदा धर्म तथा परमेश्वर का संरक्षण प्राप्त होता है। धर्म तथा धर्म के नाम पर चलनेवाले व्यवहारों के संरक्षण के लिए ब्राह्मण के नियमों को भी मनुष्यों के राजा पर निर्भर होना पड़ता है। बलराम दास ने अपनी रामायण में लोगों को गुमराह करनेवाले इन तत्त्वों का पर्दाफाश करने में कोई कसर न उठा रखी। वे कहते हैं कि दरबार के ब्राह्मण, बिना किसी अपवाद के, खुशामद कला में प्रवीण थे। राजा के हर किये का वे समर्थन करते थे क्योंकि इससे उन्हें व्यक्तिगत रूप से लाभ होता था। राम-विभीषण संवाद में, बलराम दास बार-बार याद दिलाते हैं कि कलियुग में ब्राह्मण जाति में जन्म लेना शर्म की बात है। ऐसे ब्राह्मण न संयमी होते हैं, न उनके जीवन की कोई आचार संहिता होती है। इन ब्राह्मणों के मन में अपने साथ के लोगों के लिए केवल दुर्भावना होती है और वे नैतिकता की मर्यादाओं का गंभीर उल्लंघन भी करते हैं। बलराम दास का मत है कि अपने दुष्कर्मों के कारण ब्राह्मण निश्चय ही नरक में जाएंगे।

स्पष्ट है कि गया में उनके साथ जो हुआ उससे राम तथा सीता एवं लक्ष्मण को गहरी पीड़ा हुई होगी। कहते हैं कि वाराणसी में भी उन्हें इसी प्रकार की स्थिति का सामना करना पड़ा। इसके बाद बलराम दास तीनों के साथ सहानुभूति दिखाते हुए उन्हें उड़ीसा में चंद्रभागा नदी के साथ, समुद्र के किनारे, कोणार्क मंदिर के पास ले आते हैं। वे पवित्र नदी में स्नान करते हैं तथा निकट स्थित मंदिरों में शिव और शक्ति की प्रतिमाओं की स्थापना करते हैं और इन मंदिरों में पूजा करते हैं। इसके बाद वह पुरी में आकर वहाँ के प्रसिद्ध मंदिर में त्रिदेव को अर्घ्य प्रदान करते हैं। यहाँ बलराम दास, राम, लक्ष्मण और सीता की जगन्नाथ बलभद्र, और सुभद्रा के रूप में जो मंदिर के अधिष्ठाता देवता हैं, स्तुति करते हैं। वे उसी परम्परा का अनुगमन करते हैं जो उड़ीसा के साधक कवियों, उनसे पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों की रही है। देवता और परमेश्वर की, जो मूलतः अनाम और अरूप है, सकल्पना कुछ भी रही हो, परन्तु उड़ीसा के साधकों ने इस सब को निश्शंक विश्वास तथा आदर के भाव के साथ स्वीकार कर लिया है, तथा उसे (परमेश्वर को) भगवान जगन्नाथ से अभिन्न मानते हुए उत्कर्ष एवं समृद्धता की अनुभूति की है। बलराम दास और पंचसखा मंडली ऐसे साधकों की श्रेणी के एक उदाहरण मात्र हैं। इससे यह बात सरलता से स्पष्ट हो जाती है कि अपनी रामायण के प्रत्येक अध्याय में बलराम दास क्यों बार-बार भगवान जगन्नाथ और श्रीक्षेत्र पुरी की स्तुति गाने पर आ जाते हैं।

हम पहले भी कह चुके हैं कि बलराम दास की रामायण, वाल्मीकि की संस्कृत

4

की अन्य रचनाएँ

उनकी पचसखा मंडली, कभी पथवादी न
य विशेष से जुड़े भी न थे। उनमें से हरेक
वह आकांक्षापूर्ति, साक्षात्कार तथा पूजा के
यह भी मानते थे कि मंज़िल तक पहुँचने की
जिन बातों का है वे हैं हार्दिक निष्ठा तथा
अपनाए, यदि वे बातें उसमें हैं तो उसे
दियों तक, *विभिन्न पूजा-पद्धतियों का और*
र दृष्टिकोणों का सगम स्थल रहा है, तथा
और परम्परा के उत्तराधिकारी थे। वे
। न करते थे। वे समन्वयवादी थे—यही
भी उन्हें मिली थी। वे जिस बात पर बल
। महत्‌ आकांक्षा, और तत्त्वज्ञान के लिए
इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कौन-सा मार्ग
रर था—यह महत्त्वहीन तो न था परन्तु,
और आकांक्षा के साथ चलने की तत्परता
उनके लिए योग, मंत्र, शरीर स्पंदना,
गं थे जिनके कारण उनके विरोधियों ने
अपनी धुरी बनाया और वेदान्त ही वह केंद्र
ना की चिंतन-परम्परा का चक्र घूमता है।
। भगवान जगन्नाथ, जो स्वयं ही स्पष्ट

रामायण का मूलनिष्ठ अनुवाद नहीं है। वाल्मीकि की रामायण भारत की महान विरासत का अंग है। भारत की विभिन्न भाषाओं में जो भी रामायण, रामकथाएं, तथा रामकाव्य आदि जब भी लिखे गये उन सबका आदि स्रोत वाल्मीकि रामायण रहा है। भारतीय भाषाओं में लिखे गये रामायण कभी भी अनुवाद मात्र नहीं रहे, उनमें सदा ही स्थानीय संस्कृतियों की परम्पराओं का भी पर्याप्त मिश्रण होता रहा है। आधार फलक अवश्य ही अखिल भारतीय परम्परा का रहा है। जगमोहन रामायण में बलरामदास की स्थिति मूलतः एक स्वतंत्र कवि की ही है, वे अखिल भारतीय परम्परा की रामायण धारा के अनुवादक मात्र नहीं। मूल के अंशों का लोप तथा नये अंशों के प्रक्षेप से एक मौलिक रचना होने का आभास होता है जिससे यह पता चलता है कि किस प्रकार एक उधारी हुई कथा कवित्व शक्ति के सहारे अपने पैरों पर खड़ी हो जाती है। लोप और प्रक्षेप आकस्मिक प्रक्रियाएँ नहीं, परन्तु बहुत सीमा तक कवि की विशिष्ट प्रवृत्तियों से, जीवन-मूल्यों के प्रति उसके विशिष्ट दृष्टिकोण से, तथा उनकी अंतर्दृष्टि की अपूर्वता से निर्धारित होती हैं। बड़ी मात्रा में यह बात इस पर निर्भर है कि कवि का विकास किस परिवेश में हुआ है, उसके समय की बड़ी चुनौतियां कौन-सी थी, तथा ऐसी कुछ अन्य बातें। मूल से होने वाले परिवर्तनों और प्रक्षेपों की एक काफी लम्बी सूची बनायी जा सकती है। मध्यकाल के कवियों में मिथक-निर्माण की प्रवृत्ति पाई जाती है और उसी से प्रधानतया उनकी शैली रूपायित हुई है—बलरामदास इसके अपवाद न थे। परम्परा प्राप्त कथासूत्र में परिवर्तन के अतिरिक्त बलरामदास की रामायण ने पर्याप्त मात्रा में लोकतत्व को भी ग्रहण किया है और अधिकांश में इसी कारण यह जातीय महाकाव्य बलराम के यहाँ जनकाव्य बन गया है। मूल के राजा और रानी बदलकर पिता और माता बन गये, जिनमें यथार्थ जीवन जैसी सौंदर्य-सृष्टि है और वैसा ही अधूरापन भी। देवता भूल जाते हैं कि उन्हें एक दिव्य लक्ष्य की पूर्ति करनी है और वे साधारण व्यक्तियों के समान आचरण करते हैं ऐसे प्रसंगों में लेखक मात्र कथा का वर्णनकर्ता न रहकर एक आत्माभिव्यक्ति-कारी कवि बन जाता है।

बलराम दास बताते हैं कि जब सीता को ले जाते हुए रावण को जटायु से, जिसने उसे रोकने की कोशिश की, लड़ना पड़ा तब सीता चोरी-छिपे रथ से उतर कर जंगल में छुप गयी। जब तक रावण की जटायु से लड़ाई चलती रही तब तक रावण को इसका पता न चला। बाद में रथ में आने पर उसे पता चला कि सीता तो वहाँ है ही नहीं। हाँ, उसने तुरन्त ही सीता की चोरी पकड़ ली और उसे पकड़ कर रथ पर ले आया। इससे यह प्रकट होता है कि संकट की स्थिति में सीता की असहायता और निष्क्रियता की कल्पना बलराम को नहीं रुची। उन्होंने सोचा दे सीता के चरित्र में साहस की साक्षीभूत किसी घटना का समावेश कर

एक बेहतर चित्र पाठकों को प्रस्तुत करेंगे। सम्भवतः रावण के हाथों में पड़ी सीता के समान किसी बेबस महिला की कल्पना बलराम दास को सह्य नहीं थी। इसीलिए वाल्मीकि रामायण की कथा से यह भिन्नता दिखायी देती है। एक कहानी और है जो मूल रामायण में नहीं मिलती परन्तु उड़ीसा की लोकवार्ता में पर्याप्त प्रचलित है। यह कहानी है एक दयालु गिलहरी की जो लंका पहुँचने के लिए समुद्र पर बन रहे सेतु के निर्माण कार्य में हाथ बँटाना चाहती थी। सब लोग यथाशक्ति भरपूर काम कर रहे थे। इस दृश्य से गिलहरी को प्रेरणा मिली कि वह भी कुछ कर सके तथा उस पुण्य कार्य में हिस्सा बटाये। पुरानी कहावत है, जहाँ चाह वहाँ राह। गिलहरी ने क्या किया—उसने समुद्र में डुबकी लगायी जिससे वह भीग गयी, भीगे बदन से उसने समुद्र के किनारे बालू में लोट लगायी। बालू के जो थोड़े कण उसके शरीर से चिपक गये उन्हें वह उस विशाल निर्माणाधीन पुल पर जाकर झाड़ आयी। उसने कई बार यह क्रिया दुहरायी। राम का ध्यान उस पर गया और बड़े स्नेह के साथ वे उसके पास पहुँचे। उन्होंने गिलहरी को अपनी हथेली पर बैठा लिया और दूसरे हाथ की अंगुलियाँ उसकी पीठ पर फेरने लगे, मानो गिलहरी की की सहायता के लिए वे उसके प्रति कृतज्ञता तथा प्रशंसा प्रकट कर रहे हों। यह जनविश्वास है कि तब से सब गिलहरियों की पीठ पर राम की अंगुलियों की छाप दिखाई देती है जो यह याद दिलाती है कि उनकी एक पूर्वज गिलहरी ने अयोध्या के राजकुमार की, संकट की घड़ियों में, सहायता की थी।

जगमोहन रामायण में बलराम दास एक कवि के रूप में अधिक उभरते हैं बजाए ओडिया भाषा में रामकथा के एक वर्णनकर्ता के। उनकी श्रेष्ठता तब उभरती है जब वे देवताओं को धरती पर ले आते हैं, उनमें मानवोचित भावनाएँ भर देते हैं और उनके जीवन के क्रियाकलाप की ऊष्मा की अनुभूति में सहभागी बनते हैं। एक उदाहरण लीजिये। शक्तिविद्ध होने पर अचेत और मृतप्राय लक्ष्मण को देखकर राम अपना संयम खो बैठते हैं तथा उनके व्यथित मानव हृदय से करुण विलाप के स्वर फूट उठते हैं, 'इस संसार की रीत है कि भाई सम्पत्ति में हिस्सा बटाता है। परन्तु मेरा यह बेचारा भाई मेरी विपत्ति में हिस्सा बटाने मेरे साथ जंगल आया था।'

बलराम एक गृहस्थ थे, लेकिन प्रगाढ़ आस्था से अनुप्राणित। पंचसखा [illegible], जिनमें वे अग्रज थे, दोनों की मान्यता रखते थे—गृहस्थ की भी, संन्यासी की भी। इसलिए पंचसखा कभी पलायनवादी नहीं रहे। [illegible] निर्गुण [illegible] की आराधना करके भी पलायनवादी न रहे। वे समाज को भी [illegible] में [illegible] और [illegible] समर्पित करते थे। इस [illegible] के [illegible] [illegible] हैं [illegible] सरल [illegible], [illegible] और [illegible] कि [illegible] करते थे। [illegible] जीवन का [illegible] के [illegible] नहीं किया। [illegible] हैं,

रामायण का मूलनिष्ठ अनुवाद नही है। वाल्मीकि की रामायण भारत की महान विरासत का अंग है। भारत की विभिन्न भाषाओं में जो भी रामायण, रामकथाएं, तथा रामकाव्य आदि जब भी लिखे गये उन सबका आदि स्रोत वाल्मीकि रामायण रहा है। भारतीय भाषाओं मे लिखे गये रामायण कभी भी अनुवाद मात्र नही रहे; उनमे सदा ही स्थानीय संस्कृतियो की परम्पराओ का भी पर्याप्त मिश्रण होता रहा है। आधार फलक अवश्य ही अखिल भारतीय परम्परा का रहा है। जगमोहन रामायण मे बलरामदास की स्थिति मूलत: एक स्वतंत्र कवि की ही है, वे अखिल भारतीय परम्परा की रामायण धारा के अनुवादक मात्र नही। मूल के अंशों का लोप तथा नये अंशो के प्रक्षेप से एक मौलिक रचना होने का आभास होता है जिससे यह पता चलता है कि किस प्रकार एक उधारी हुई कथा कवित्व शक्ति के सहारे अपने पैरो पर खडी हो जाती है। लोप और प्रक्षेप आकस्मिक प्रक्रियाएँ नही, परन्तु बहुत सीमा तक कवि की विशिष्ट प्रवृत्तियो से, जीवन-मूल्यों के प्रति उसके विशिष्ट दृष्टिकोण से, तथा उनकी अतर्दृष्टि की अपूर्वता से निर्धारित होती हैं। बडी मात्रा मे यह बात इस पर निर्भर है कि कवि का विकास किस परिवेश मे हुआ है, उसके समय की बडी चुनौतियां कौन-सी थी, तथा ऐसी कुछ अन्य बातें। मूल से होने वाले परिवर्तनों और प्रक्षेपो की एक काफ़ी लम्बी सूची बनायी जा सकती है। मध्यकाल के कवियों मे मिथक-निर्माण की प्रवृत्ति पाई जाती है और उसी से प्रधानतया उनकी शैली रूपायित हुई है—बलरामदास इसके अपवाद न थे। परम्परा प्राप्त कथासूत्र मे परिवर्तन के अतिरिक्त बलरामदास की रामायण ने पर्याप्त मात्रा मे लोकतत्त्व को भी ग्रहण किया है और अधिकाश मे इसी कारण यह जातीय महाकाव्य बलराम के यहाँ जनकाव्य बन गया है। मूल के राजा और रानी बदलकर पिता और माता बन गये, जिनमे यथार्थ जीवन जैसी सौंदर्य-सृष्टि है और वैसा ही अधूरापन भी। देवता भूल जाते हैं कि उन्हे एक दिव्य लक्ष्य की पूर्ति करनी है और वे साधारण व्यक्तियों के समान आचरण करते हैं ऐसे प्रसंगों मे लेखक मात्र कथा का वर्णनकर्ता न रहकर एक आत्माभिव्यक्ति-कारी कवि बन जाता है।

बलराम दास बताते हैं कि जब सीता को ले जाते हुए रावण क
जिसने उसे रोकने की कोशिश की, लड़ना पड़ा तब सीता चोरी-[illegible]
कर जगल मे छुप गयी। जब तक रावण की जटायु से लड़ाई
रावण को इसका पता न चला। बाद मे रथ में आने पर उसे
तो वहाँ है ही नही। हाँ, उसने तुरन्त ही सीता को चोरी
कर रथ पर ले आया। इससे यह प्रकट होता है कि सकट
असहायता और निष्क्रियता की कल्पना बलराम को न
वे सीता के चरित्र मे साहस की साक्षीभूत किसी

4

बलराम दास की अन्य रचनाएँ

बलराम दास, तथा इस दृष्टि से उनकी पंचसखा मंडली, कभी पंथवादी न रहे। वे संकुचित अर्थों में किसी भी पंथ विशेष से जुड़े भी न थे। उनमें से हरेक का अपना रास्ता था जिस पर चलकर वह आकांक्षापूर्ति, साक्षात्कार तथा पूजा के लक्ष्यों की सिद्धि करता था। परंतु वह यह भी मानते थे कि मंजिल तक पहुँचने की राहें अलग-अलग हो सकती हैं। महत्त्व जिन बातों का है वे हैं हार्दिक निष्ठा तथा खोज की सचाई। व्यक्ति कोई भी राह अपनाए, यदि वे बातें उसमें हैं तो उसे मंजिल मिलेगी। उड़ीसा, अनेक शताब्दियों तक, विभिन्न पूजा-पद्धतियों का और जीवन तथा जीवन मूल्यों के प्रति विविध दृष्टिकोणों का संगम स्थल रहा है, तथा साधक के रूप में पंचसखा उस विरासत और परम्परा के उत्तराधिकारी थे। वे निषेध और वर्जना के मार्ग का अनुसरण न करते थे। वे समन्वयवादी थे—यही उनका स्वभाव था और ऐसी ही शिक्षा भी उन्हें मिली थी। वे जिस बात पर बल देते थे वह थी साधक की निष्ठा, उसकी महत् आकांक्षा, और तत्त्वज्ञान के लिए शुद्ध हृदय से उसका प्रयत्नशील होना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कौन-सा मार्ग चुना जाए इसका महत्त्व दूसरे स्थान पर था—यह महत्त्वहीन तो न था परन्तु, अपने अभीष्ट मार्ग पर सच्ची निष्ठा और आकांक्षा के साथ चलने की तत्परता की तुलना में, इसका महत्त्व कम था। उनके लिए योग, तंत्र, शरीर साधना, वैष्णव भक्ति आदि ऐसे अलग-अलग मार्ग थे जिनके कारण उनके शिष्यों में वैमनस्य पैदा होता। उन्होंने वेदांत को अपनी धुरी बनाया और वेदांत ही वह केंद्र बिंदु है जिसके चारों ओर भारतीय साधना की चिंतन-परम्परा का चक्र घूमता है। इसके अतिरिक्त, शीर्ष स्थान पर थे स्वयं भगवान जगन्नाथ, जो स्वयं ही मध्य बिंदु थे। वे कभी भी एक पक्ष न बने। उन्होंने किसी एक साधना मार्ग को एकमात्र मार्ग निर्धारित नहीं किया। अपितु वे उन साधकों की स्वतन्त्र साधना के अनुरूप देखना चाहते थे—साधकों का मार्ग चाहे कुछ भी रहा हो। यही कारण है कि पंचसखाओं

जिसमे बलराम की रचनाएँ भी शामिल हैं, हमे ससार की सशक्त पुष्टि के दर्शन होते हैं। उसमे आह्वान किया गया है कि हम अभीष्ट आदर्शों के अनुसार इसका पुनर्निर्माण करें बजाए इसके कि इसे मनुष्य का निश्चित पतनकारी मानकर इससे पलायन कर जायें।

कवि हनुमान के सस्कृत महानाटक को पहला स्थान देते हुए बलराम दास ने जगमोहन रामायण को दूसरा महानाटक कहा है। दोनो का मुख्य प्रतिपाद्य रामायण है। रूपकात्मक दृष्टि से महानाटक, महान् नाटक होने के नाते, स्वय मानव जीवन की ही कहानी है और इसलिए वह भी एक जातीय महाकाव्य है। बलराम की रामायण भी अनेक दृष्टियो से मानव जीवन पर रचित एक महान कृति है जिसमे एक जानी-पहचानी कहानी के जरिये हमारा जीवन की सपूर्णता से साक्षात्कार होता है—उस जीवन से जो बलराम दास के युग मे विद्यमान था। सारळा दास के महाभारत तथा जगन्नाथ दास के श्रीमद्भागवत के समान, बलराम दास की 'दाण्डी रामायण' भी उडिया भाषी जनसाधारण मे बहुत लोकप्रिय है। बलराम दास ने जब रामायण की रचना की तब उनकी आयु इकतीस वर्ष से कुछ ही अधिक थी। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि इतनी युवा उम्र मे बलराम ने इतनी अधिक सृजनात्मक क्षमता अर्जित कर ली थी। तत्कालीन युग की परिपाटी का अनुसरण करते हुए बलराम दास नम्रतापूर्वक अपनी उपलब्धि का श्रेय भगवान जगन्नाथ को देते हैं केवल उन्ही की कृपा से महान उपलब्धि सभव हुई। उनके शब्द हैं :

> 'रामायण की कथा पर रचित मेरी यह कृति जगमोहन रामायण कहलाती है और इस महान कृति के कवि स्वय भगवान जगन्नाथ हैं। जब मैं यह पुस्तक लिख रहा था तब भगवान सदा मेरे हृदय मे विद्यमान रहते थे। वे वास्तव मे अपनी कथा स्वयं ही कह रहे थे। मैं तो उस रचना व्यापार का माध्यम मात्र हूँ। जिस प्रकार यह संभव है कि एक चूहे के बिल से एक उज्ज्वल श्वेत नाग निकल आये उसी प्रकार मेरे मुख से इन पद्यों के रूप मे रामायण की महान रचना प्रकट हुई है।'

4

बलराम दास की अन्य रचनाएँ

बलराम दास, तथा इस दृष्टि से उनकी पचसखा मंडली, कभी पथवादी न रहे। वे संकुचित अर्थों में किसी भी पथ विशेष से जुड़े भी न थे। उनमें से हरेक का अपना रास्ता था जिस पर चलकर वह आकांक्षापूर्ति, साक्षात्कार तथा पूजा के लक्ष्यों की सिद्धि करता था। परन्तु वह यह भी मानते थे कि मंजिल तक पहुँचने की राहें अलग-अलग हो सकती हैं। महत्त्व जिन बातों का है वे हैं हार्दिक निष्ठा तथा खोज की सचाई। व्यक्ति कोई भी राह अपनाए, यदि वे बातें उसमें हैं तो उसे मंजिल मिलेगी। उड़ीसा, अनेक शताब्दियों तक, विभिन्न पूजा-पद्धतियों का और जीवन तथा जीवन मूल्यों के प्रति विविध दृष्टिकोणों का सगम स्थल रहा है, तथा साधक के रूप में पचसखा उस विरासत और परम्परा के उत्तराधिकारी थे। वे निषेध और वर्जना के मार्ग का अनुसरण न करते थे। वे समन्वयवादी थे—यही उनका स्वभाव था और ऐसी ही शिक्षा भी उन्हें मिली थी। वे जिस बात पर बल देते थे वह थी साधक की निष्ठा, उसकी महत आकांक्षा, और तत्त्वज्ञान के लिए शुद्ध हृदय से उसका प्रयत्नशील होना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कौन-सा मार्ग चुना जाए इसका महत्त्व दूसरे स्थान पर था—यह महत्त्वहीन तो न था परन्तु, अपने अभीष्ट मार्ग पर सच्ची निष्ठा और आकांक्षा के साथ चलने की तत्परता की तुलना में, इसका महत्त्व कम था। उनके लिए योग, तंत्र, शरीर साधना, वैष्णव भक्ति आदि ऐसे अलग-अलग मार्ग थे जिनके कारण उनके विरोधियों में वैमनस्य पैदा होता। उन्होंने वेदांत को अपनी धुरी बनाया और वेदांत ही वह केंद्र बिंदु है जिसके चारों ओर भारतीय साधना की चिंतन-परम्परा का चक्र घूमता है। इसके अतिरिक्त, शीर्ष स्थान पर थे स्वयं भगवान जगन्नाथ, जो स्वयं ही लक्ष्य बिंदु थे। वे कभी भी एक पथ न बने। उन्होंने किसी एक साधना मार्ग को एकमात्र मार्ग निर्धारित नहीं किया। अपितु वे उन साधकों की समस्त साधना के अधिष्ठाता

है कुछ भी रहा हो। यही कारण है कि पचसखाओं

जिसमे बलराम की रचनाएँ भी शामिल हैं, हमे ससार की सशक्त पुष्टि के दर्शन होते हैं। उसमे आह्वान किया गया है कि हम अभीष्ट आदर्शों के अनुसार इसका पुनर्निर्माण करें बजाए इसके कि इसे मनुष्य का निश्चित पतनकारी मानकर इससे पलायन कर जायें।

कवि हनुमान के संस्कृत महानाटक को पहला स्थान देते हुए बलराम दास ने जगमोहन रामायण को दूसरा महानाटक कहा है। दोनों का मुख्य प्रतिपाद्य रामायण है। रूपकात्मक दृष्टि से महानाटक, महान् नाटक होने के नाते, स्वय मानव जीवन की ही कहानी है और इसलिए वह भी एक जातीय महाकाव्य है। बलराम की रामायण भी अनेक दृष्टियों से मानव जीवन पर रचित एक महान कृति है जिसमे एक जानी-पहचानी कहानी के जरिये हमारा जीवन की सपूर्णता से साक्षात्कार होता है—उस जीवन से जो बलराम दास के युग मे विद्यमान था। सारळा दास के महाभारत तथा जगन्नाथ दास के श्रीमद्भागवत के समान, बलराम दास की 'दाण्डी रामायण' भी उडिया भाषी जनसाधारण मे बहुत लोकप्रिय है। बलराम दास ने जब रामायण की रचना की तब उनकी आयु इकतीस वर्ष से कुछ ही अधिक थी। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि इतनी युवा उम्र मे बलराम ने इतनी अधिक सृजनात्मक क्षमता अर्जित कर ली थी। तत्कालीन युग की परिपाटी का अनुसरण करते हुए बलराम दास नम्रतापूर्वक अपनी उपलब्धि का श्रेय भगवान जगन्नाथ को देते हैं केवल उन्ही की कृपा से महान उपलब्धि सभव हुई। उनके शब्द हैं:

> 'रामायण की कथा पर रचित मेरी यह कृति जगमोहन रामायण कहलाती है और इस महान कृति के कवि स्वय भगवान जगन्नाथ हैं। जब मैं यह पुस्तक लिख रहा था तब भगवान सदा मेरे हृदय मे विद्यमान रहते थे। वे वास्तव मे अपनी कथा स्वय ही कह रहे थे। मैं तो उस रचना व्यापार का माध्यम मात्र हूँ। जिस प्रकार यह संभव है कि एक चूहे के बिल से एक उज्ज्वल श्वेत नाग निकल आये उसी प्रकार मेरे मुख से इन पद्यों के रूप मे रामायण की महान रचना प्रकट हुई है।'

4

बलराम दास की अन्य रचनाएँ

बलराम दास, तथा इस दृष्टि से उनकी पंचसखा मंडली, कभी पंथवादी न रहे। वे संकुचित अर्थों में किसी भी पंथ विशेष से जुड़े भी न थे। उनमें से हरेक का अपना रास्ता था जिस पर चलकर वह आकांक्षापूर्ति, साक्षात्कार तथा पूजा के लक्ष्यों की सिद्धि करता था। परंतु वह यह भी मानते थे कि मंजिल तक पहुँचने की राहें अलग-अलग हो सकती हैं। महत्त्व जिन बातों का है वे हैं हार्दिक निष्ठा तथा खोज की सचाई। व्यक्ति कोई भी राह अपनाए, यदि ये बातें उसमें हैं तो उसे मंजिल मिलेगी। उड़ीसा, अनेक शताब्दियों तक, विभिन्न पूजा-पद्धतियों का और जीवन तथा जीवन मूल्यों के प्रति विविध दृष्टिकोणों का संगम स्थल रहा है, तथा साधक के रूप में पंचसखा उस विरासत और परम्परा के उत्तराधिकारी थे। वे निषेध और वर्जना के मार्ग का अनुसरण न करते थे। वे समन्वयवादी थे—यही उनका स्वभाव था और ऐसी ही शिक्षा भी उन्हें मिली थी। वे जिस बात पर बल देते थे वह थी साधक की निष्ठा, उसकी महत् आकांक्षा, और तत्त्वज्ञान के लिए शुद्ध हृदय से उसका प्रयत्नशील होना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कौन-सा मार्ग चुना जाए इसका महत्त्व दूसरे स्थान पर था—वह महत्त्वहीन हो न था परन्तु, अपने अभीष्ट मार्ग पर सच्ची निष्ठा और आकांक्षा के साथ चलने की तत्परता की तुलना में, इसका महत्त्व कम था। उनके लिए योग, मंत्र, शरीर साधना, वैष्णव भक्ति आदि ऐसे अलग-अलग मार्ग थे जिनके कारण उनके विरोधियों में वैमनस्य पैदा होता। उन्होंने वेदांत को अपनी धुरी बनाया और वेदांत ही वह केंद्र बिंदु है जिसके चारों ओर भारतीय साधना की चिंतन-परम्परा का चक्र घूमता है। इसके अतिरिक्त, शीर्ष स्थान पर थे स्वयं भगवान जगन्नाथ, जो स्वयं ही मध्य बिंदु थे। वे कभी भी एक पंथ न बने। उन्होंने किसी एक साधना मार्ग को एकमात्र मार्ग निर्धारित नहीं किया। अपितु वे उन साधकों को हमेशा सम्मान की दृष्टि से देखते थे—साधकों का मार्ग चाहे कुछ भी रहा हो। यही कारण है कि पंचसखाओं

बाण नीचे रख दिया, और रथ से नीचे उतरकर दोनों हाथ जोड़े कौरवों की सेना मे पहुँचे। बाकी पांडव श्रीकृष्ण के साथ उनके पीछे-पीछे गए—कुछ चकित होकर और कुछ यह सोचकर कि यदि युधिष्ठिर को शत्रु से कोई खतरा हो तो उनकी रक्षा की जाए। दोनो ओर के सैनिकों तथा अन्य लोगो को ऐसा लगा कि युधिष्ठिर तो युद्ध होने से पहले ही हार माने जा रहे हैं और वे युधिष्ठिर की इस कायरता की उच्च स्वर से भर्त्सना करने लगे। युधिष्ठिर सीधे भीष्म के पास पहुँचे, प्रणाम किया तथा उनसे युद्ध मे सफलता का आशीर्वाद मांगा। यही बात उन्होने एक के बाद एक करके द्रोण, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा के साथ की तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। जिन लोगो ने युधिष्ठिर के आचरण को समझने में भूल की थी वे अब उसके महत्त्व को समझ गये तथा युधिष्ठिर के धैर्य तथा शात स्वभाव की प्रशसा करने लगे। उन्होंने युधिष्ठिर जैसे पुत्र को जन्म देने वाली माता की स्तुति की जिस (पुत्र) ने वास्तविक युद्ध आरम्भ होने के क्षणो मे सज्जनता और सद्भाव का परिचय दिया।

पहले अध्याय मे उस प्रसग की चर्चा हम कर चुके हैं जिसने बलराम दास को श्रीमद्भागवत का उड़िया अनुवाद करने की प्रेरणा दी। ग्रथ के आरभ मे ही बलराम ने मूल कथा मे एक मनोरजक परिवर्तन कर दिया है—स्वय महाभारत के लेखक व्यासदेव, धृतराष्ट्र के पास जाते हैं तथा उन्हे कौरव-पाडव युद्ध देखने के लिए आमत्रित करते हैं। परंतु इसके बाद बलराम ने मूल कथा का ही अनुसरण किया है।

बलरामदास के गीता अनुवाद मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसकी भाषा से अनेक ओड़िया शब्दो के विकास की तथा अनेक सस्कृत शब्दो के ओड़िया मे विभक्त होने की कुजी हाथ लगती है। उड़िया भाषा मे यह प्रक्रिया निश्चित रूप से बलराम दास से कई सौ वर्ष पूर्व आरभ हो चुकी। परतु बलराम दास तथा सारळा दास उन लेखको मे से थे जिन्होंने सबसे पहले सस्कृत से नये शब्दो का निर्माण करते हुए बोलचाल की भाषा से उन विभक्त खडो को चुना तथा तत्कालीन जनसाधारण के व्यवहार मे प्रचलित तद्भव शब्दो को अपनाया। यह कहा जा सकता है कि परवर्ती शताब्दियो मे यह महान परीक्षण न चल सका—अलकार प्रधान कविता (रीतिकाव्य) के उस युग मे ओड़िया कविता सस्कृत काव्यशास्त्र की दकियानूसी रूढ़ियो की दासी बन गई और फलत. ओड़िया को सस्कृतनिष्ठ बनाने पर बल दिया जाने लगा। 'सस्कृत की ओर चलो' की तरह का एक अनुष्ठान ही प्रारभ हो गया जिसमे कवियो की अपेक्षा पडितों की भूमिका प्रमुख रही। यह प्रक्रिया धार्मिक प्रवृत्तियो की सामाजिक रीतिबद्धता के लगभग समकालीन थी और सभवत उसका परोक्ष परिणाम थी। साहित्य भी अधिक-से-अधिक रीतिबद्ध हो गया, उस पर राजदरबारी पडितो का एकाधिकार हो गया। बीसवीं शताब्दी के आरभ मे जाकर ही इस धारा ने पलटा खाया, और लेखकों और

कवियों ने महसूस किया कि उन्हें बोलचाल की भाषा के भीतर लोक की ओर झुकना चाहिए तथा संस्कृत ग्रंथों का दामन छोड़कर जनभाषा में प्रचलित उनके सरल रूपों को अपनाना चाहिए।

बलराम दास की सबसे उल्लेखनीय रचना है 'लक्ष्मी पुराण'। उड़ीसा में लक्ष्मी पूजा की परम्परा न जाने कब से चली आ रही है। शीतकाल के पहले चरण में होने वाली फसल कटाई के महीनों में लक्ष्मी पूजा होती है। उड़ीसा में प्रत्येक गृहस्थ तथा गृहवासियों के लिए लक्ष्मी भगवान विष्णु की अर्धांगिनी हैं, और इस नाते मंदिर में भगवान जगन्नाथ की भी पत्नी हैं। लक्ष्मी पुराण की एक कथा के अनुसार, एक बार लक्ष्मी पूजा के दिनों में देवी ने भगवान जगन्नाथ से इस बात की अनुमति मांगी कि वे लक्ष्मी मंदिर छोड़कर बाहर जाएं और स्थान-स्थान पर जाकर यह देखें कि लोग कितनी हार्दिक पवित्रता और निष्ठा के साथ पूजा करते हैं। देवी को अनुमति मिल गई, और दोनों भाइयों, बलराम और जगन्नाथ, ने यह सोचकर कि आज तो घर में भोजन बनेगा नहीं, बाहर जाकर समय बिताने का कार्यक्रम बनाया। इस प्रकार एक गुरुवार को सभी लोग घर से बाहर चले गए। लक्ष्मी भी बिना यह जाने कि दोनों भाई बाहर गए हैं, बाहर चली गईं।

लक्ष्मी ने एक बूढ़ी ब्राह्मणी का रूप धारण किया और सबसे पहले कुछ धनी परिवारों में गईं—जैसे, धनी व्यापारी, मंदिरों के मुख्य पुरोहित आदि। जो कुछ उन्होंने देखा उससे उन्हें बड़ी निराशा हुई। लोग बिस्तरों पर गहरी नींद सोए हुए थे और चारों ओर इतनी गंदगी थी कि देवी लक्ष्मी की पूजा की तैयारी की तो बात ही क्या हो सकती थी। निराश होकर वे शहर के इलाके में आईं जहाँ छोटी जाति के लोग अपने झोंपड़ों में, जिनमें घर के नाम पर दिखाने को शायद ही कुछ हो, रहते थे। उन्हें यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि चंडाल परिवार की एक महिला श्रिया ने, ब्रह्म मुहूर्त में स्नान कर घर का आँगन धो डाला था और अब लक्ष्मी पूजा की तैयारी में लगी थी। झोंपड़ी में घुसने वाले दरवाज़े पर उसने पदचिह्नों की सज्जा बनाई थी जिस पर चलकर लक्ष्मी घर में प्रविष्ट होतीं और पूजा को स्वीकार करतीं। यह सब देखकर लक्ष्मी बहुत प्रसन्न हुईं और उन्होंने घर के अन्दर जाने का निश्चय किया। उनके अंदर पहुँचते ही वह झोंपड़ी एक महल बन गई। लक्ष्मी ने स्वीकार किया कि उन्हें ऐसा अनुभव पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था।

इसी क्षण दोनों भाई जगन्नाथ और बलराम भी संयोगवश वहाँ से गुज़र रहे थे। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि लक्ष्मी तो एक निम्नतम जाति के व्यक्ति, चंडाल, के घर में बैठी थीं। बलराम को एकदम गुस्सा आ गया और अपने भाई जगन्नाथ को सुनाते हुए कहा : "अब तुम स्वयं अपनी आँखों से अपनी पत्नी के हाल देख लो। सब घरों में से उसने इस चंडाल के घर को चुना है और यहाँ बैठी है।

न मालूम अपनी नगर में और कितनी ऐसी छोटी जगहों में वह घूमती-फिरती है। तुम समझ सकते हो वहाँ से लौटकर मंदिर में प्रवेश करने से पहले न वह स्नान तो करेगी और हम सबको भी पाप का भागी बनाएगी। शायद हर रोज लक्ष्मी यही करती है और हम भाइयों को कुछ पता नहीं चलता।" जगन्नाथ ने पहले तो अपनी पत्नी का पक्ष लेने की हिम्मत दिखाई परन्तु बलराम इतने गुस्से में थे कि उन्होंने भाई की बात अनसुनी कर दी। दोनों भाई मंदिर लौट गए और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि उस दिन से वे अपने जीवन में स्वच्छता लाएँगे और लक्ष्मी को साथ न रखेंगे।

दिन समाप्त होने पर जब लक्ष्मी मंदिर लौटी तो उन्होंने देखा कि स्वयं उनके पति जगन्नाथ ही उनका मंदिर में प्रवेश रोकने के लिए द्वार पर खड़े हैं। बड़े भाई के आदेश के अनुसार जगन्नाथ ने लक्ष्मी को कह दिया कि क्योंकि वे सब तरह के गंदे और नीच जाति के लोगों के घरों से लौट रही हैं इसलिए वे मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकतीं। लक्ष्मी ने उनका विरोध किया और उन्हें समझाने की कोशिश की कि इस आरोप में सचाई नहीं। उन्होंने कहा कि चंडाल के घर में जाना कोई अपराध नहीं। वे जगत् की माता हैं और इस नाते वे किसी के साथ कोई भेदभाव न करेंगी। भाई के आदेश से भवन जगन्नाथ ने लक्ष्मी को बताया कि उनके विरुद्ध केवल यही एक शिकायत नहीं। वास्तव में उनसे उन्हें बहुत समय से अनेक शिकायतें रही हैं "संसार में तुमसे अधिक पतित कोई और स्त्री नहीं। संसार के लोग ठीक ही कहते हैं कि तुम घुमक्कड़ देवी हो। मेरी पत्नी होने के नाते मेरे घर पर ही रहने के बजाए तुम घर-घर घूमती रहती हो। एक ही घर को समृद्ध और वैभवशाली बनाने के फेर में तुम हजारों घरों को उजाड़ देती हो। घर के लोगों में फूट डालने में तुम माहिर हो। तुम्हारे काले कारनामों का चिट्ठा लंबा है, मैंने तो अभी थोड़ी बातें ही कही हैं। अच्छा हो कि तुम यहाँ से चली जाओ और फिर से यहाँ बसने की तमन्ना दिल से निकाल दो।" लक्ष्मी इन आरोपों से हार मानने वाली न थीं। उन्होंने साफ़दिली से जवाब दिया कि अपने भाई की बातों में आकर जगन्नाथ ने जो अपनी ही पत्नी को छोड़ देने का फैसला कर लिया है उससे सचमुच उसकी कमजोरी ही प्रकट होती है। अपने सम्मान की रक्षा करते हुए लक्ष्मी ने अपने पहने हुए आभूषण जगन्नाथ को लौटा दिए और वहाँ से चल दीं।

लक्ष्मी नगर से बाहर एक ऐसे भवन में रहने लगीं जिसे विश्वकर्मा ने उनके लिए तत्काल ... न्होंने दोनों भाइयों को सबक ... ों की सहायता से लक्ष्मी ... कर दिया। बलराम ... ी सब स्त्रियों ... । कवि ने ... ौर यदि

कवियों ने महसूस किया कि उन्हें बोलचाल की भाषा के अधिक लोक की ओर मुड़ना चाहिए तथा संस्कृत शब्दों का दामन छोड़कर जनभाषा में प्रचलित उनके सरल पर्यायों को अपनाना चाहिए।

बलराम दास की अपनी उल्लेखनीय रचना है 'लक्ष्मी पुराण'। उड़ीसा में लक्ष्मी पूजा की परम्परा न जाने कब से चली आ रही है। दीपावली के पहले अगहन में होने वाली फसल कटाई के महीनों में लक्ष्मी पूजा होती है। उड़ीसा में प्रत्येक गृहस्थ तथा गृहस्वामिनी के लिए लक्ष्मी भगवान विष्णु की जीवनसंगिनी हैं, और इस नाते मंदिर में भगवान जगन्नाथ की भी संगिनी हैं। लक्ष्मी पुराण की एक कथा के अनुसार, एक बार लक्ष्मी पूजा के दिनों में देवी ने भगवान जगन्नाथ से इस बात की अनुमति मांगी कि वे लक्ष्मी मंदिर छोड़कर बाहर जाएँ और स्थान-स्थान पर जाकर यह देखें कि लोग कितनी हार्दिक पवित्रता और निष्ठा के साथ पूजा करते हैं। देवी को अनुमति मिल गई, और दोनों भाइयों, बलराम और जगन्नाथ, ने यह सोचकर कि आज तो घर में भोजन बनेगा नहीं, बाहर जाकर समय बिताने का कार्यक्रम बनाया। इस प्रकार एक गुरुवार को सभी लोग घर से बाहर चले गए। लक्ष्मी भी बिना यह जाने कि दोनों भाई बाहर गए हैं, बाहर चली गईं।

लक्ष्मी ने एक बूढ़ी ब्राह्मणी का रूप धारण किया और सबसे पहले कुछ धनी परिवारों में गईं—जैसे, धनी व्यापारी, मंदिरों के मुख्य पुरोहित आदि। जो कुछ उन्होंने देखा उससे उन्हें बड़ी निराशा हुई। लोग बिस्तरों पर गहरी नींद सोए हुए थे और चारों ओर इतनी गंदगी थी कि देवी लक्ष्मी की पूजा की तैयारी की तो बात ही क्या हो सकती थी। निराश होकर वे शहर के इलाके में आईं जहाँ छोटी जाति के लोग अपने झोंपड़ों में, जिनमें घर के नाम पर दिखाने को शायद ही कुछ हो, रहते थे। उन्हें यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि चंडाल परिवार की एक महिला श्रिया ने, ब्रह्म मुहूर्त में स्नान कर घर का आँगन धो डाला था और अब लक्ष्मी पूजा की तैयारी में लगी थी। झोंपड़ी में घुसने वाले दरवाजे पर उसने पदचिह्नों की सज्जा बनाई थी जिस पर चलकर लक्ष्मी घर में प्रविष्ट होतीं और पूजा को स्वीकार करतीं। यह सब देखकर लक्ष्मी बहुत प्रसन्न हुईं और उन्होंने घर के अन्दर जाने का निश्चय किया। उनके अंदर पहुँचते ही वह झोंपड़ी एक महल बन गई। लक्ष्मी ने स्वीकार किया कि उन्हें ऐसा अनुभव पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था।

इसी क्षण दोनों भाई जगन्नाथ और बलराम भी संयोगवश वहाँ से गुजर रहे थे। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि लक्ष्मी तो एक निम्नतम जाति के व्यक्ति, चंडाल, के घर में बैठी थी। बलराम को एकदम गुस्सा आ गया और अपने भाई जगन्नाथ को सुनाते हुए कहा : "अब तुम स्वयं अपनी आँखों से अपनी पत्नी के हाल देख लो। सब घरों में से उसने इस चंडाल के घर को चुना है और यहाँ बै...

न मालूम अपनी सनक में और कितनी ऐसी छोटी जगहों में वह घूमती-फिरती है। तुम समझ सकते हो वहां से लौटकर मंदिर में प्रवेश करने से पहले न वह स्नान तो करेगी और हम सबको भी पाप का भागी बनाएगी। शायद हर रोज लक्ष्मी यही करती है और हम भाइयों को कुछ पता नहीं चलता।" जगन्नाथ ने पहले तो अपनी पत्नी का पक्ष लेने की हिम्मत दिखाई परंतु बलराम इतने गुस्से में थे कि उन्होंने भाई की बात अनसुनी कर दी। दोनों भाई मंदिर लौट गए और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि उस दिन से वे अपने जीवन में स्वच्छता लाएँगे और लक्ष्मी को साथ न रखेंगे।

दिन समाप्त होने पर जब लक्ष्मी मंदिर लौटी तो उन्होंने देखा कि स्वयं उनके पति जगन्नाथ ही उनका मंदिर में प्रवेश रोकने के लिए द्वार पर खड़े हैं। बड़े भाई के आदेश के अनुसार जगन्नाथ ने लक्ष्मी को कह दिया कि क्योंकि वे सब तरह के गंदे और नीच जाति के लोगों के घरों से लौट रही हैं इसलिए वे मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकतीं। लक्ष्मी ने उनका विरोध किया और उन्हें समझाने की कोशिश की कि इस आरोप में सचाई नहीं। उन्होंने कहा कि चंडाल के घर में जाना कोई अपराध नहीं। वे जगत् की माता हैं और इस नाते वे किसी के साथ कोई भेदभाव न करेंगी। भाई के आदेश के भक्त जगन्नाथ ने लक्ष्मी को बताया कि उनके विरुद्ध केवल यही एक शिकायत नहीं। वास्तव में उनसे उन्हें बहुत समय से अनेक शिकायतें रही हैं "संसार में तुमसे अधिक पतित कोई और स्त्री नहीं। संसार के लोग ठीक ही कहते हैं कि तुम घुमक्कड़ देवी हो। मेरी पत्नी होने के नाते मेरे घर पर ही रहने के बजाए तुम घर-घर घूमती रहती हो। एक ही घर को समृद्ध और वैभवशाली बनाने के फेर में तुम हजारों घरों को उजाड़ देती हो। घर के लोगों में फूट डालने में तुम माहिर हो। तुम्हारे काले कारनामों का चिट्ठा लंबा है, मैंने तो अभी थोड़ी बातें ही कही हैं। अच्छा हो कि तुम यहां से चली जाओ और फिर से यहां बसने की तमन्ना दिल से निकाल दो।" लक्ष्मी इन आरोपों से हार मानने वाली न थीं। उन्होंने साफदिली से जवाब दिया कि अपने भाई की बातों में आकर जगन्नाथ ने जो अपनी ही पत्नी को छोड़ देने का फैसला कर लिया है उससे सचमुच उनकी कमजोरी ही प्रकट होती है। अपने सम्मान की रक्षा करते हुए लक्ष्मी ने अपने पहने हुए आभूषण जगन्नाथ को लौटा दिए और वहां से चल दीं।

लक्ष्मी नगर से बाहर एक ऐसे भवन में रहने लगीं जिसे विश्वकर्मा ने उनके लिए तत्काल बनाकर खड़ा कर दिया था। वहां उन्होंने दोनों भाइयों को सबक सिखाने की योजना बनानी शुरू की। अपने अनुचर वेतालों की सहायता से लक्ष्मी ने मंदिर में विद्यमान सारा धन और भोजन चुपके से गायब कर दिया। बलराम दास के अनुसार, लक्ष्मी ने यह सब यह सोचकर किया कि संसार की सब स्त्रियों का नेतृत्व करना, उनके अधिकारों की रक्षा करना, उनका कर्तव्य है। कवि ने उनके मुख से निम्नलिखित शब्द कहलाए हैं : "मैं भगवान की पत्नी हूं और यदि

भगवान मुझे ही इस तरह घर से बाहर निकाल सकते हैं तो संसारी मनुष्य भी उनका अनुसरण करेंगे तथा अपनी पत्नियों से इसी प्रकार का व्यवहार करेंगे। यदि भगवान मेरा परित्याग कर एक और गृहस्थी बसा सकते हैं तो संसार के मनुष्य भी उन्हीं के कार्यों का अनुसरण करेंगे।"

अगले दिन सुबह जब वे दोनों भाई उठे तो उन्होंने पाया कि मंदिर खाली पड़ा है। भूख के सताए वे रसोईघर में पहुँचे। वहाँ भोजन का नामो-निशान तक न था। जब भूख उनकी बर्दाश्त से बाहर हो गई तो वे ब्राह्मणों का वेश धारण कर घर-घर भीख माँगने निकल पड़े। परन्तु आम भिखारियों की तरह लोग उन्हें बिना कुछ दिए अपने घरों से चलता कर देते थे। तिरस्कार की कड़वी घूँट पीते हुए वे शहर से बाहर नवनिर्मित प्रासाद के सामने पहुँचे। वहाँ उनका स्वागत हुआ तथा उन्हें भोजन परसा गया। उन्होंने पाया कि इस घर में उन्हें बिल्कुल वही सब मिला जो लक्ष्मी के घर रहते उन्हें मिलता था। उन्हें पता चल गया कि उनका आतिथ्य कौन कर रहा है। उन्हें अपने क्षणिक बुद्धिभ्रंश तथा प्रमाद पर पश्चात्ताप हुआ कि उन्होंने लक्ष्मी को घर से चले जाने को कह दिया था। उन्होंने लक्ष्मी से मंदिर लौट चलने की विनती की। लक्ष्मी ने दो शर्तें रखीं। पहली, जाति, जन्म या सम्प्रदाय के भेदभाव के बिना हर किसी के घर जाने की उसे छूट रहेगी। दूसरी, उस दिन के बाद से मंदिर में जो भी बने वह बिना किसी भेदभाव के सबको प्राप्त हो। मंदिर के प्रांगण में, ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक सभी को एक साथ, एक-दूसरे के हाथ से, यहाँ तक कि मुँह से भी, भोजन-वितरण ... कोई उस पर आपत्ति न करे।

है, हम सब बातों पर पूरा भरोसा नहीं कर सकते, विशेषकर इसलिए कि मध्ययुग में ग्रंथों के लेखक माने जाने की परम्परा कुछ भिन्न प्रकार की थी। एक मत यह है कि बलराम दास एक नहीं दो थे, बल्कि तीन। भक्ति आंदोलनों के नेताओं की उपलब्धियों का उनके शिष्य लोग आदतन बढ़ा-चढ़ाकर बखान करते थे। उदाहरण के लिए, पंचसखा मंडली के एक और सदस्य अच्युतानंद दास एक हजार पुस्तकों के प्रणेता कहे जाते हैं। अच्युतानंद के एक ग्रंथ में उन्हीं के मुख से यह बात पूर्ण भक्तिभाव से कहलाई गई है। यहाँ 'एक हजार' शब्द का अर्थ शाब्दिक नहीं अपितु लाक्षणिक है, अर्थात् बड़ी संख्या। कभी-कभी किसी बड़े गुरु के ऐसे शिष्य भी हुए जो यह चाहते थे कि उनकी रचनाएँ, उनके नाम से नहीं अपितु उनके गुरु के नाम से प्रसिद्ध हों और इसलिए वे बजाए अपने नाम के, अपने गुरु का नाम रचना पर डाल देते थे। भारतवर्ष में यह परम्परा सदियों तक रही, और अभी हाल तक भी रही। इसके विपरीत, कभी-कभी गुरु भी अपनी रचनाओं को अपने शिष्यों के नाम से परिचालित करा देते थे। धारणा यह थी कि परम गुरु भगवान हैं क्योंकि सब ग्रंथों के रचनाकार हैं इसीलिए इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि किस विशेष रचना पर किस व्यक्ति का नाम लेखक के रूप में जाता है।

स्थान के अभाव में बलराम दास की सब रचनाओं का परिचय देना संभव न होगा। हम केवल कतिपय अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की चर्चा करेंगे जिनमें बलराम दास के सशक्त सृजनात्मक सामर्थ्य के दर्शन होते हैं तथा जो उन्हें कुछ ऐसी साधना परम्पराओं से जोड़ती है जिनका उनके साधक व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान रहा है। ये कुछ थोड़े-से ग्रंथ इस प्रकार हैं।

गुप्त गीता: छोटे-छोटे आठ अध्यायों में पद्यबद्ध शैली में प्रस्तुत इस रचना में ज्ञानयोग की मुख्य बातों का वर्णन है। विषयवस्तु का प्रतिपादन श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद के माध्यम से किया गया है—अर्जुन शंका प्रकट करते हैं और श्रीकृष्ण उसका समाधान करते हैं। इस रचना में शरीर में स्थित छः चक्रों और अधिष्ठान का वर्णन है तथा ब्रह्मा की महाशून्य के रूप में स्तुति है। इसमें सन्दर्भ को उभार प्रदान करते हुए जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा, और सुदर्शन चक्र को चारों वेदों का प्रतीक मानकर इन्हें मानव शरीर के क्रमशः इन चार अंगों—नेत्र, कर्ण, ओंठ तथा नासिका—के तुल्य बताया गया है। इसी पुस्तक में एक अन्य स्थान पर बलराम दास ने शरीर के विभिन्न अंगों का ओड़ीशा के विभिन्न मंदिरों और स्थानों के नाम के साथ रूपक बाँधा है।

अमरकोश गीता: इस पुस्तक में सृष्टि के इतिहास का वर्णन है—किस प्रकार सर्वशक्तिमान् ब्रह्मा के मन में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई तथा पंच महा-भूतों का जन्म हो गया। इसमें पिंड और ब्रह्मांड तथा जीवात्मा और परमात्मा के आंतरिक संबंधों का भी वर्णन है। इसके बाद इसमें शरीर के पैरों, छः चक्रों तथा

जीवन के सारतत्त्व का विवचेन है । विपयातर करते हुए बलराम दास हमे बताते हैं कि पाँचों पाडव भाई पुरी मे अब भी अज्ञातवास कर रहे हैं और वे उनके पाँच निवास स्थानों का नामोलेख भी करते हैं।

वेदांतसार गुप्त गीता . पहले ही चर्चा हो चुकी है कि इस पुस्तक की रचना एक चुनौती का परिणाम थी—यह चुनौती उत्कल राज और पंडितों ने दी थी कि बलराम वेदांत के सूक्ष्म सिद्धांतों की व्याख्या प्रस्तुत करें और बलराम ने यह कर दिखाया। पुस्तक का प्रतिपाद्य यह है कि अपने आपको जानना ही ईश्वर को जानना है और इसके लिए योग मार्ग पर चलना होता है। जो मंदिर मे भगवान के दर्शन करता है और देखता है कि वे सदेह विद्यमान हैं, वह वास्तविक भक्त है। यह समझ लेना ही सत्य ज्ञान है कि सपूर्ण विश्व एवं ब्रह्माड ही पिंड है। इस आत्मज्ञान की उपलब्धि ही परम आनद है ।

ब्रह्मांड भूगोल : पचसखा मंडली के एक सदस्य जगन्नाथ दास ने ओड़िया श्रीमद्भागवत लिखा। ओडिया साहित्य मे, बलराम दास की ओड़िया रामायण के समान इसे भी आदर का स्थान प्राप्त है। कहते हैं कि जब दोनो पुरी मे रहते थे तो बलरामदास, भागवत पर जगन्नाथ दास के प्रवचन सुना करते थे। वे दोनों परस्पर मित्र थे, और धार्मिक साहित्य के गंभीर विद्वान तथा भक्त थे। ब्रह्मांड भूगोल को जगन्नाथ दास के ओड़िया भागवत के विभिन्न पदो की टीका का भाष्य कहा जा सकता है। पुस्तक मे 84 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के आरंभ मे अर्जुन उड़िया भागवत से एक पद लेते हैं तथा श्रीकृष्ण से उसकी व्याख्या करने का अनुरोध करते है और श्रीकृष्ण उनके अनुरोध का पालन करते हैं। वे व्याख्याएँ श्रीजगन्नाथ दास के ओड़िया भागवत के समान, नौ वर्ण प्रति चरण के हिसाब से दो चरणो वाले छन्दों मे प्रस्तुत की गई हैं। अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा बलराम भागवत का चित्रण ब्रह्माड के रूप मे करते हैं तथा एक साग रूपक बाँधने का प्रयत्न करते है । पुस्तक का नाम 'ब्रह्माड भूगोल' रखने का यही कारण है ।

अपने समकालीन कवि की रचना पर दार्शनिक टीका लिखने का यह एक निराला उदाहरण है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित होगा कि स्वय जगन्नाथ दास ने एक ऐसी पुस्तक लिखी है—मार्कण्ड दास की "केशव कोइळि" पर दार्शनिक टीका 'अर्थ कोइळि'। परंतु मार्कण्ड दास, जगन्नाथ दास के समकालीन न थे; वे उनसे पहले हुए थे ।

वट अवकाश तथा भाव समुद्र : इन दोनों पुस्तको की चर्चा पहले अध्याय मे हो चुकी है। इनमे कवि के जीवन की दो घटनाओं का वर्णन है तथा इस बात का प्रतिपादन है कि भक्त का परमेश्वर से व्यक्तिगत संबंध उसके जीवन का सबसे बड़ा वरदान होता है। ये कहानियाँ शायद शब्दशः सच न हों, परंतु इनमें भक्त की इस मनोवृत्ति का सत्य चित्रण अवश्य है कि परमेश्वर ही भक्त का अंतिम

है, तथा उस पर भक्त को यह विश्वास है कि उसकी सहायता से वह अंत में सब संकटों और कष्टों से छुटकारा पा सकेगा। हम भक्त कवियों के इस प्रकार के आत्म कथा-काव्यों से परिचित हैं जो आत्मप्रशंसा के स्थान पर सर्वरक्षक परमेश्वर के यश और अनुग्रह का गुणगान करते हैं।

सप्तांग योगासन टीका इस पुस्तक में शिष्य और साधक मल्लिक नाथ अपने गुरु गोरखनाथ से प्रश्न पूछते हैं तथा गुरु उत्तर देकर शिष्य की शंका का समाधान करते हैं इसके प्रतिपाद्य हैं योग, और मानवदेह को ईश्वर-साक्षात्कार का माध्यम बनाने की विधि। इसके अनुसार योगसाधना की सात विधियाँ हैं और सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति के इच्छुक साधक के लिए उन विधियों का पूरी निष्ठा से अनुपालन आवश्यक है। कहना न होगा कि उड़ीसा में प्रचलित योगसाधना की यह परम्परा वस्तुतः महान भारतीय परम्परा का अंग थी। विद्वानों का मत है कि बौद्ध सिद्धों में से अनेक सिद्ध, जो तिब्बत गये थे तथा जिनकी विरासत चर्यापदों में सुरक्षित है, इस क्षेत्र के निवासी थे जो बाद में ओड़िया भाषी क्षेत्र कहलाया। इनमें से कुछ सिद्धों के नाम हैं कण्हपा, लोही दास और सरहपा। इन सिद्धों ने काय साधना की एक पद्धति प्रवर्तित की जो मध्ययुग तक अपनी पहचान बनाए जीवित रही। योग मार्ग का अनुसरण करने वालों का इस पद्धति से भी वास्ता पड़ता था और यह देश की आध्यात्मिक साधना परम्परा का एक अंग मानी जाती थी। बलराम की एक अन्य पुस्तक 'शारीर भूगोल' का भी यही प्रतिपाद्य है—गोरखनाथ की परम्परा का परिचय देना तथा लोगों को उनकी ओर आकृष्ट करना।

मृगुणि स्तुति तथा गजनिस्तारण गीता ये सरल ओड़िया की काव्य रचनाएँ हैं जिनमें पुरानी परम्परा में दो प्रसिद्ध भक्ति कथाओं का वर्णन है। एक कहानी है हरिणी की जो चारों तरफ संकट से घिर गई थी। उसने संकट की स्थिति से उबरने के लिए परमेश्वर की स्तुति की और एकाएक प्रकट हुए चक्रवात, वर्षा और सर्प ने उसकी रक्षा की, मानों उन्हें परमेश्वर ने ही भेजा हो। ऐसी ही कहानी गज और ग्राह की है —ग्राह के चुंगल में फँसे गज की भगवान ने रक्षा की, ग्राह को चक्र से मारकर। यह कहानी इतनी लोकप्रिय है कि कवि ने गज-ग्राह युद्ध को अनेक स्थलों पर होता हुआ दिखाया है। सब भारतीय भाषाओं के भक्ति साहित्य में इस कहानी का बड़ा करुण और सजीव वर्णन मिलता है।

बलराम दास की कुछ अन्य पुस्तकें—कृष्णलीला, रासकेलि, और दुर्गा स्तुति जनसाधारण के लिए थीं। कांत कोइळि और बारामासी, इन दो रचनाओं का ओड़ीसा के कोइळि साहित्य में विशिष्ट स्थान है। बारामासी, संभवतः ओड़िया भाषा की साहित्यिक रचनाओं के प्राचीनतम उदाहरणों में से एक है। संभव है कि पहले ये रचनाएँ लिखित रूप में न होकर केवल मौखिक परम्परा में विद्यमान हों। उन्हें किसने लिखा यह सामान्यतया अज्ञात ही है। बलराम दास ने, जनता के

सामने अपने को एक भक्त और कवि के रूप मे प्रस्तुत करने के लिए उसी प्रकार से कविता के माध्यम का प्रयोग किया जिस प्रकार उनसे पहले तथा बाद मे अन्य कवियों ने किया। 'बेढा परिक्रमा' भगवान् जगन्नाथ के मुख्य मंदिर के चारो ओर छोटे-छोटे मंदिरो मे प्रतिष्ठित विभिन्न देवी-देवताओ का पद्यबद्ध परिचयात्मक सूचीपत्र है। इस पुस्तक में लेखक, पाठको को इन मंदिरो मे प्रचलित पूजाचक्रों तथा विधि-विधानो से परिचित कराता है।

बलराम दास के साहित्य के शोधार्थियों ने जो पाडुलिपियाँ खोज निकाली हैं उनमे ज्ञान चूडामणि गद्यरचना है और ब्रह्मगीता कुछ गद्य मे है, कुछ पद्य मे। ब्रह्मगीता का मूल पाठ पद्य मे है तथा पाठ के आगे-पीछे यत्र-तत्र की गई टिप्पणियाँ गद्य मे है। कुछ दशाब्दियो पहले उत्तर उड़ीसा के सामती राज्य मयूरभज मे खुदाई कराते हुए भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने रिपोर्ट मे बलराम दास की दो पुस्तको का सकेत किया वे हैं—प्रलव गीता और सिद्धाताडम्बर। परन्तु किसी भी शोधार्थी को कही भी इन पुस्तको की पाडुलिपियाँ नही मिली। बलराम की एक अन्य गद्य पद्यमयी रचना है गणेश विभूति। बलराम दास के रचना काल मे ओड़िया गद्य मे परिपक्वता नही आ पाई थी। बोलचाल की भाषा को ही तब गद्य समझा जाता था और लिखित माध्यम मे भाषा पद्यबद्ध रूप मे ही सामने आती थी। इसके अतिरिक्त, भगवान् की स्तुति करनी हो, अथवा परमेश्वर की पूजा या साक्षात्कार की चर्चा करनी हो, उसके लिए कविता ही एकमात्र माध्यम थी। बलराम दास निश्चय ही उन थोडे से पहल करनेवाले लेखको मे से थे जिन्होंने कविता मे गद्य का मिश्रण किया और वह भी धार्मिक काव्य मे। इस प्रकार, बलराम दास की रचनाओ मे प्रक्षिप्त या उपलब्ध गद्य के अश भाषाशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ओडिया भाषा के विकास का अध्ययन करनेवाले विद्वानों को इन गद्यांशों मे ऐसे रोचक सूत्र मिलेंगे जिनकी सहायता से वे अनेक उड़िया शब्दो के विकासक्रम का मार्ग दिखा सकेंगे। इनमे क्रियापदो की कहानी विशेष रूप मे रोचक है कि किस प्रकार वे धीरे-धीरे संस्कृत से दूर होते गए तथा ओड़िया भाषा का अंग बनते गए। ओड़िया भाषा के इतिहास के अध्ययन के संदर्भ मे, विभिन्न सोपानो मे हुए इस रूप परिवर्तन का विस्तृत अध्ययन अभी तक नहीं हो सका।

अपने नाम के अनुरूप 'एक अध्याय महाभारत' रचना कर्म की अपने मे एक निराली उपलब्धि है। स्मरण रहे कि बलराम दास ने जगमोहन रामायण की रचना एक लाख से अधिक पदो मे की—उन्होंने स्वयं ऐसा कहा है। उनसे सौ वर्ष पहले सारळा दास ने वृहद्काय महाभारत की रचना की थी। आश्चर्य है कि बलराम दास को एक ही अध्याय मे 185 छदों मे समूचे महाभारत लिख डालने की प्रेरणा कहाँ से मिली। यह ग्रंथ संस्कृत के धार्मिक साहित्य मे उपलब्ध हस्तामलक परम्परा के अन्तर्गत है। जो लोग समयाभाव के कारण सारळा दास के

महाभारत को नहीं पढ़ सकते उन्हें बलराम दास का यह संक्षिप्त महाभारत पढ़ना रुचेगा।

बलराम दास की लिखी कही जानेवाली छोटी-बड़ी उपर्युक्त पुस्तकों के अलावा कुछ अन्य रचनाएँ भी बलराम की लिखी मानी जाती हैं। इनके नाम हैं, नील सुन्दर गीता, कलि भारत, बौद्ध अध्याय, इत्यादि। इन रचनाओं के प्रतिपाद्य में समरूपता के अभाव के कारण कुछ विद्वानों का विचार है कि मध्ययुगीन ओडिया साहित्य में एक से अधिक बलराम दास हुए। कुछ विद्वानों के अनुसार कम-से-कम दो बलराम दास अवश्य हुए—एक बलराम दास ने वैष्णव मत पर साहित्य-रचना की, और दूसरे बलराम दास ने योग तथा निर्गुणवाद पर ग्रंथ लिखे। गुप्त गीता के बारे में कहा जाता है कि बलराम दास ने इसका केवल पहला अध्याय ही लिखा था। बाद के अध्यायों का लेखक उनका समनामधारी कोई अन्य साधक था। बाङ्ला में लिखे श्री चैतन्य के जीवन और युग का वर्णन करनेवाले वैष्णव साहित्य में किसी 'मत्त' बलराम दास का उल्लेख है। कुछ लोग उसे पचसखा मंडली का बलराम दास ही मानते हैं, परन्तु कुछ अन्य विद्वान उसे एक अलग व्यक्ति कहते हैं। अब तक उपलब्ध तत्कालीन कुछ पाडुलिपियों के अनुसार पहली बात ही सत्य प्रतीत होती है।

अधिक गंभीर कठिनाई तब पैदा होती है जब हम खानेबंदी के तरीके से सोचने लगते हैं और यह मान लेते हैं कि यदि कोई कवि या लेखक धार्मिक विषय पर ग्रंथ-रचना करता है तो वह किसी सम्प्रदाय की विचारधारा से बँधा रहेगा। परन्तु पचसखा पर, जिनमें बलराम भी शामिल थे, कभी यह नियम लागू न हुआ। उन्होंने धार्मिक कवि के आवरण में सब प्रकार के विषयों पर साहित्य रचना की। तो बलराम दास वास्तव में क्या थे? क्या वे उस अर्थ में वैष्णव थे जिस अर्थ में सामान्य रूप से तथा ऊपरी तौर से इस शब्द को ग्रहण किया जाता है? क्या वे बौद्ध थे, क्योंकि अपने समकालीनों की भाँति उन्होंने बुद्ध और जगन्नाथ को एक ही माना है? क्या उनकी रचनाएँ प्रच्छन्न रूप में योग और तंत्र का प्रचार करती हैं? यदि बलराम दास नाम का एक ही व्यक्ति था तो वह अपनी रचनाओं में इतनी अधिक विविधता कैसे समाविष्ट कर सका? इसमें कोई संदेह नहीं कि पचसखा मंडली में बलराम दास सबसे अधिक प्रसिद्ध और सम्मानित थे, यद्यपि यह ठीक है कि उक्त मंडली के दो अन्य सदस्य, जगन्नाथ दास और अच्युतानंद, भी बलराम के समान साधना के उच्चतम शिखरों पर पहुँचे। बलराम दास की सर्वप्रमुखता का कारण यह भी हो सकता है कि वे पचसखाओं में सबसे बड़े थे। वे आयु में श्री चैतन्य से भी बड़े थे—श्री चैतन्य वह महापुरुष थे जो पुरी के धार्मिक जीवन की वर्षों तक धुरी बने रहे। बलराम दास का कितना सम्मान था इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उनकी पत्नी लक्ष्मी ब,

5

दरबारी वैष्णवों में विवाद

'वैष्णव' शब्द से एक ऐसे व्यक्ति का बोध होता है जो विष्णु का भक्त है, परमेश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास करता है, और यह मानता है कि संपूर्ण विश्व उसका धाम है। सच्ची भक्ति भावना तथा निस्वार्थ वृत्ति वाले किसी भी व्यक्ति को वैष्णव कहा जा सकता है। परन्तु इतिहास में उसके उदाहरण नही मिलते। विष्णु के नाम पर अनेक पंथ और भक्तिमार्ग चले। इन सम्प्रदायों की मान्यताओं में छोटे-छोटे मतभेद थे, कोई किसी बात पर बल देता है कोई किसी पर, जिसके फलस्वरूप उनकी दार्शनिक मान्यताओं में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई। विष्णु की उपासना केन्द्रबिन्दु अवश्य रही परन्तु विष्णु तक भक्त को ले जाने वाला मार्ग एक न होकर अलग-अलग सम्प्रदायों और पंथों में बँट गया जिसके फलस्वरूप ईश्वर साधना और ईश्वर पूजा में इतनी अव्यवस्था और वैमनस्य दिखाई देते हैं।

पुरी के भगवान जगन्नाथ युगों तक विष्णु के अवतार सर्वोच्च देवता के रूप में पूजे जाते रहे हैं तथा उनके भक्तों ने अपने को वैष्णव कहा है। उड़ीसा में गंग वंश तथा केशरी राजाओं में पहले एक राजवंश की रानियों ने अपने को परम वैष्णवी कहा और यह शब्द उनके पदनाम का अंग बन गया। उससे पहले ईसा की पहली शताब्दी में खारवेल के एक शिलालेख में उस समय कृष्ण की पूजा के प्रचलन का संकेत है। हम पहले देख चुके हैं कि उड़ीसा पर दक्षिण से आने वाले भक्ति आंदोलनों का प्रभाव था, और रामानुज और माध्व तथा अन्य वैष्णव आचार्यों ने उड़ीसा में अपने मठ तथा अनुयायी बनाए।

इसलिए, पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में जब श्री चैतन्य उड़ीसा में आए और पुरी पहुँचे तब तक यह नगर विष्णु-पूजा और वैष्णव धर्म के केन्द्र के रूप में प्रख्यात हो चुका था। यह ठीक है कि चैतन्यवाद उड़ीसा के लिए एक नयी लहरी थी जिसने उड़ीसा को एकबारगी लपेट में ले लिया, परन्तु यह मानना ठीक न होगा

कि चैतन्य ही वैष्णव भक्ति को ओड़ीसा मे लाए और यह भी कि उनकी तीर्थयात्रा तथा उड़ीसा प्रवास की अवधि मे उड़ीसा पर केवल गौड़ीय वैष्णव धारा का प्रभाव रहा।

इस संबंध मे ध्यान रखने योग्य बात यह है कि श्री चैतन्य ने तत्कालीन उत्कल-राज प्रतापरुद्र देव को गौड़ीय वैष्णव मत की दीक्षा दी और यह धारा शनैः शनैः वैष्णव भक्ति की शासन-समर्थित धारा बन गई तथा इसे राज दरबार मे स्थान मिल गया। उस युग मे रचित कुछ साहित्य मे स्वयं भगवान जगन्नाथ द्वारा प्रतापरुद्र को यह आदेश देने का वर्णन है कि वे श्री चैतन्य द्वारा प्रवर्तित वैष्णव मत मे दीक्षित हो जाएँ। कुछ भी हो, राजा के गौड़ीय वैष्णव मत मे दीक्षित होने से मत को एक विशेष प्रकार का समर्थन तथा संरक्षण मिला, और ज्यों-ज्यों गौड़ीय वैष्णव मत का प्रभाव बढ़ता गया त्यों-त्यों वैष्णव गौड़ीय भक्ति की अन्य धाराएँ उपेक्षित होने लगी तथा भेदभाव का शिकार बनने लगी।

पुरी के जगन्नाथ मंदिर के प्रांगण मे जब स्वयं उत्कल राज गौड़ीय वैष्णव मत मे दीक्षित हो गए तो उनके अधीन छोटे राजाओ ने भी उनका अनुसरण किया। जब कोई विशेष धर्म स्वय राजा का धर्म हो जाए तो उसमे एक विशेष आकर्षण पैदा हो जाता है तथा अन्य धर्मों की तुलना में वह विशिष्ट स्थिति का अधिकारी बन जाता है। गौड़ीय वैष्णवमत मे प्रतापरुद्र देव के दीक्षित होने तथा उसके अग्रणी उपासक बन जाने के बाद उड़ीसा मे भी ऐसा ही हुआ तथा सामाजिक जीवन के सब क्षेत्रो मे यह धारा छा गई। गौड़ीय वैष्णव भक्तिधारा ने उड़ीसा मे पहले से प्रचलित वैष्णव भक्ति की प्रथा मे कुछ जोड़कर उसे समृद्ध बनाने की कोशिश की हो, ऐसा नही हुआ; अपितु वह तो एक शीर्षस्थ धारा बन गई, जैसे उसने युद्ध मे विजय प्राप्त की हो। गौड़ीय वैष्णव धारा मे नवदीक्षित उड़ीसा के भक्त जिस भाषा (शैली) में स्तुति और प्रार्थना के गीत गाते थे वह भी उस धारा के साथ बाहर से आयात की गई थी। अब भी उड़ीसा मे स्थित गौड़ीय वैष्णव भक्ति के केन्द्रो मे प्रार्थनाएँ और कीर्तन ओडिया भाषा मे न होकर उसी प्रकार बाड्ला मे होते हैं जिस प्रकार श्री चैतन्य देव के समय मे होते थे। शासन से समर्थन प्राप्त ईसाई मिशनरियो ने देश-विदेश मे जाकर वहाँ के लोगों का धर्म-परिवर्तन किया तथा वहाँ की भाषा को भी अपने धर्म के प्रचार के लिए अपना लिया। उन्होंने धर्मपरिवर्तित लोगो पर अपनी भाषा नही लादी। परन्तु भाषा के विषय मे गौड़ीय वैष्णव मत की स्थिति अपने ही ढग की रही है। इस बात का कारण अभी तक ज्ञात नही कि जो श्री चैतन्य देव धर्म के मामले में उदार और मानवतावादी दृष्टि के समर्थक थे, भाषा के मामले में वही श्री चैतन्य सबंद्ध इतने कट्टर क्यों बने रहे। यह भी विचित्र बात है कि भाषा के मामले मे गौड़ीय वैष्णव मत के दृष्टिकोण मे आज तक कोई परिवर्तन नही हुआ।

श्री चैतन्य देव 1509 में उडीसा आए। कहते हैं कि उनके परिवार का मूल निवास स्थान उडीसा मे जाजपुर था, परन्तु कुछ पीढियो पहले उनका परिवार श्रीहट्ट(वर्तमान बाङ्लादेश मे सिलहट) चला गया। वहाँ से श्री चैतन्य देव के पिता श्री जगन्नाथ मिश्र गौड देश वर्तमान बंगाल स्थित नवद्वीप मे आए। उस समय वे युवा थे और नवद्वीप निवासी एक ब्राह्मण परिवार मे विवाह कर वे उसी परिवार के मुखिया हो गए। श्री चैतन्य देव उनकी दसवी संतान थे। श्री चैतन्य के गुरु श्री ईश्वर पुरी स्वय श्री माधवेंद्र पुरी के शिष्य थे। श्री माधवेंद्र पुरी उस समय के प्रख्यात विद्वान थे और उन्हें अब भी उडीसा मे बालेश्वर के निकट रेमुणा के गोपीनाथ मदिर मे मूर्ति प्रतिष्ठा के लिए सादर स्मरण किया जाता है। कहते हैं कि पुरी आकर श्री चैतन्य वहाँ थोडा समय ही रुके, तदनतर वे दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानो पर तीर्थयात्रा के लिए चले गए और वहाँ से पुरी लौट आए तथा 1533 तक मृत्यु पर्यंत वे वही रहे। श्री चैतन्य के सबध मे, उनके अवसान के एक शताब्दी बाद ईश्वरदास के चैतन्य भागवत मे जो कथा प्रचलित हुई उसके अनुसार वे मध्यावधि मे वस्तुत दक्षिण मे नही गए थे, अपितु नवद्वीप गए थे जहाँ से वे पुरी लौटे और फिर मृत्यु पर्यंत वही रहे।

इन सब बातो का उल्लेख करना इसीलिए आवश्यक है कि पचसखा तब पुरी मे थे जब श्री चैतन्य अपने लीला के अतिम चरण मे पुरी आ गए थे और उनका गौडीय वैष्णव मत उत्कल का राजधर्म बन गया था। इस अवधि के ओडिया साहित्य के कुछ विशेषज्ञों के मतानुसार पचसखा श्रीचैतन्य देव के ही शिष्य थे और उन्ही के मत का प्रचार करते थे। इस मत का खडन हो चुका है। यह सच है कि पचसखाओ ने श्री चैतन्य को अपना गुरु बनाया और उनसे दीक्षा ली परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि वे केवल चैतन्य-शिष्य ही थे, उससे अधिक कुछ नही। वस्तुतः वे उडीसा की चिरकाल से चली आती समन्वयशील वैष्णव सस्कृति के प्रतिनिधि थे और वह भी अपने ही ढग से। जब श्री चैतन्य तीर्थयात्रा के सदर्भ मे उडीसा आए तो उन्होने उन्हे वैष्णव मत के एक महान नेता के रूप मे स्वीकार किया। पचसखाओ की रचनाओ मे श्री चैतन्य का अनेक स्थानो पर गुणानुवाद है—उन्हें अवतार कहा गया है तथा कही-कही भगवान् जगन्नाथ और कृष्ण से उनकी समानता प्रदर्शित की गई है। ईश्वरदास ने अपने चैतन्य भागवत मे यहाँ तक कहा है कि द्वापर युग मे कस का वध करने के बाद जब कृष्ण अपने दिव्य धाम पर लौट आए तो ऋषि नारद ने उन्हे समाचार दिया कि मानव जाति मे पुन ईश्वर भक्ति का ह्रास होने लगा है। लोग अधर्म मे लिप्त हो गए हैं और ईश्वर का नाम तक भूल गए हैं। इसलिए अब भगवान श्री कृष्ण को पुन पृथ्वी पर जन्म लेना होगा। मर्त्यलोक की दशा का यह समाचार सुनकर भगवान् ने तत्काल निर्णय किया कि वे मानव जाति के पुनरुत्थान के लिए अपने निकट सहयोगियों के साथ पुन एक

बारपालक योनि में जन्म लेते। यही कारण था कि अब वे श्री चैतन्य के [illegible]
जाते। कथा को पूर्ण और विश्वसनीय बनाने की दृष्टि से ईश्वर दास ने कहा कि
श्री चैतन्य के पिता श्री जगन्नाथ मिश्र तथा माता शची देवी वस्तुतः वसुदेव
और देवकी ही थे। उन्हें द्वापर युग में अपने पुत्र कृष्ण के लालन पालन का अवसर
न मिल पाया था। इसलिए उन्होंने कठोर तपस्या कर श्री चैतन्य के माता-पिता
के रूप में जन्म लेने का दिव्य अधिकार प्राप्त किया जिससे वे श्री चैतन्य के लालन-
पालन का आनंद लाभ कर सकें। ईश्वर दास ने श्री चैतन्य का सम्पूर्ण सृष्टि के
सर्वोच्च स्वामी के रूप में बार-बार वर्णन किया है।

तो यह है सारी कहानी। परन्तु उत्कल राजके गौड़ीय वैष्णव मत में दीक्षित
होने के बाद जब यह मत राजधर्म के रूप में संरक्षण प्राप्त कर प्रख्यात होने लगा
तो पंचसखा और राजदरबार के बीच दीवार खड़ी होने लगी। अलग-अलग
अवसरों पर राजा की नजर में यह बात आ गई होगी कि पंचसखा शासकीय
धारा के अनुगामी नहीं और वे अपने ही रास्ते पर चलना चाहते हैं। राजा ने
उनको सबक सिखाने की सोची और उनकी तरह-तरह से परीक्षा लेने का निश्चय
किया। पंचसखाओ मे से एक, जसवंत दास, अपनी एक पुस्तक में कहते हैं कि
राजा प्रतापरुद्र ने स्वयं श्री चैतन्य देव की उपस्थिति की कड़ी परीक्षा ली। इस
सन्दर्भ मे यह स्मरण रहे कि जब पहले-पहल श्री चैतन्य देव पुरी पहुँचे तब तक
पंचसखाओ मे से दो भक्त कवि अपने ही बूते पर ख्याति और मान्यता प्राप्त कर
चुके थे। पंचसखाओ मे ज्येष्ठतम बलराम दास अपनी ओड़िया रामायण पूरी कर
चुके थे और उन्हें वह ख्याति मिल चुकी थी जो उनसे पहले केवल सारळा दास को
ही मिली थी। जगन्नाथ दास भी ओड़िया मे अपनी महान कृति श्री मद्भागवत
की रचना कर चुके थे। यह भी श्री चैतन्य देव की महानता ही कही जाएगी कि
उन्होंने जगन्नाथ दास की प्रतिमा को स्वीकार किया तथा उन्हें 'अतिवादी' की
पदवी प्रदान की जिससे निश्चय ही उनके साथ नवद्वीप से आए उनकी अंतरंग
शिष्य मंडली के कुछ सदस्यो को जलन महसूस हुई होगी।

वैष्णव मत के प्रचार मे श्री चैतन्य ने राजशक्ति का सहारा लिया। उड़ीसा
में तो ऐसा ही हुआ और वहाँ श्री चैतन्य की वैष्णव भक्ति धारा को राज्याश्रय
प्राप्त हुआ और सबकी आँखों के सामने वह कीर्तिशिखर पर जा पहुँची। उसी
कालावधि मे यूरोप मे मार्टिन लूथर की पुनरुत्थानवादी धारा चल रही थी।
लूथर का विचार था कि पहले राजा और उसके सम्मान्य सभासदो को अपनी
विचारधारा मे दीक्षित करना चाहिए। राजा को अपने से सहमत करा लेने के
बाद, उन्हें विश्वास था कि अन्य लोग भी, तत्कालीन प्रवृत्ति के अनुसार, सत्ता के
प्रति निष्ठा की भावना से प्रेरित होकर राजा का अनुसरण करेंगे। निस्सदेह, इसमे
अल्पकालिक सफलता तो मिली परतु प्रायः हुआ यही कि पुराने पोपवाद के स्थान

पर नए प्रकार के प्रभुत्ववाद की प्रतिष्ठा हो गयी, जब कि आंतरिक आध्यात्मिक भावना मे, जहाँ वस्तुत परिवर्तन होना चाहिए था, कोई खास तबदीली न हुई। पूजा की पद्धति बदल गयी—पुराने मिथक के स्थान पर नया मिथक प्रतिष्ठित हो गया। उड़ीसा मे सोलहवी शताब्दी मे सभवत श्री चैतन्य देव तथा उनके कट्टर अनुयायियो की इमी प्रवृत्ति के कारण गौडीय वैष्णव मत शीघ्र ही एक बिल्कुल बाह्य (विदेशी) प्रवृत्ति बन कर रह गया। वह कुछ भी वास्तविक परिवर्तन नही ला पाया, और इससे भी बुरी बात यह हुई कि वह केवल प्राचीन पद्धतियो पर ऊपर से आरोपित प्रवृत्ति ही बना रहा। यह एक क्राति का रूप ले सकता था परतु इसके स्थान पर शीघ्र ही वह एक मठवादी पंथ बन कर रह गया। आज भी उडीसा मे स्थित गौडीय वैष्णव मत के मठो के महतो को नवद्वीप से संबंध बनाए रखने की चिंता अधिक रहती है, अपने चारो ओर के परिवेश से, जिसका वे सजीव अग बन सकते थे, वे दूर ही रहते हैं। मदिर मे होने वाले कीर्तन, मत्रोच्चार तथा नित्यप्रति की पूजा के विधि-विधान का सपादन अब भी उसी भाषा मे होता है जो चार शताब्दी पहले श्री चैतन्य देव अपने साथ बाहर से लाए थे। इसके विपरीत पचसखाओ ने उडीसा के विभिन्न स्थानो पर जब अपने केंद्र स्थापित किए तो उन्हे 'गद्दी' कहा, जहाँ पवित्र ग्रंथ बडी सुरक्षा और सम्मान साथ रखे जाते थे। अब भी उडीसा के दूरस्थ गाँवो के परिवारो मे भागवत गद्दियाँ हैं जहाँ आपको प्राचीन युग की अविस्मरणीय निधि देखने को मिलेगी—जगन्नाथ दास का उडिया भागवत, सारळा दास का उडिया महाभारत, बलराम दास का जगमोहन रामायण, तथा अनेक पुराणो के ओडिया अनुवाद। कटक जिले के अपने गाँव मे जसवत दास ने जो केंद्र स्थापित किया वह 'जसवत गद्दी' कहलाता है, 'जसवत मठ' नही। इसी प्रकार अच्युतानद ने अपने गाँव मे जो केंद्र बनाया, वह भी गद्दी कहलाता है, मठ नही। सदियो से चली आती इस परम्परा मे भीमाभोई की गद्दी है और महिमा गद्दी तो उन्नीसवी शताब्दी मे उडीसा मे चले एक बडे धार्मिक आदोलन का मुख्य केंद्र बनी।

उडीसा मे श्री चैतन्य के आगमन से तीन शताब्दीयो पहले वैष्णव महाकवि जयदेव ने 'गीत गोविन्द' नाम से एक अमर काव्य की रचना की। वे निम्बार्काचार्य द्वारा प्रवर्तित द्वैताद्वैत सम्प्रदाय के अनुयायी थे। गीत गोविंद के कारण उडीसा मे राधाकृष्ण पूजा बहुत लोकप्रिय हो गई और धीरे-धीरे अनेक स्थानो पर उसके पूजा केंद्र बन गए। जयदेव के लगभग तीन सौ वर्ष बाद उडीसा के सूर्यवंशी राजा श्री पुरुषोत्तम देव ने 'अभिनव वेणीसहार' नाम से एक ग्रंथ लिखा। उन्होंने भी युगलमूर्ति के रूप मे राधाकृष्ण की पूजा का गुणानुवाद किया। श्री चैतन्य के उडीसा आगमन से कुछ पहले ही राय रामानद सस्कृत मे 'श्री जगन्नाथ वल्लभ नाटकम्', जो गीत गोविंद की शैली मे एक भाव प्रधान रचना है, लिख चुके थे।

वस्तुत वैष्णव धारा से लिया गया है, हमें सारी बात स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार अच्युतानंद ने इस मवल्पना को योग पर आधारित आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की, जिसके अनुसार नित्य 'रहस' (मूल सस्कृत मे रस), के लोक मे न दिन है न रात, न निकटता है, न दूरी। यह अगम्य है, अबोध्य है। यह लोक, देवताओं-सबधी मवल्पना और नाम-रूप मवल्पना के विरोध मे वर्णित है और इसमें देवता-चतुष्टय चतुष्टय की मवल्पना के स्थान पर निराकार एकेश्वरवाद की कल्पना है (उडीसा मे इसका नाम है 'चतुर्धा मूरति' जिसमे जगन्नाथ बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शन चक्र आते हैं और जो पुरी के पुरुषोत्तम क्षेत्र के अधिष्ठाता देवता हैं)। इसी रहस लोक मे देवताओं की पृथक् सत्ता की कल्पना नष्ट हो जाती है—यही से उसका उद्भव होता है और यही विलय भी होता है।

यह सहस्रदल कमल का लोक है। इस कमल पर नित्य राधा एक प्रेमिका के रूप मे विराजमान हैं। उस राधा से शक्तियाँ जन्मी हैं जिनमे दुर्गा, पार्वती और आठ चडियाँ भी हैं। स्मरण रहे कि तत्रो के आदेश के अनुसार साधक को सर्वशक्ति को जागृत करना होता है तथा चक्रारोहण करते हुए सहस्रपत्र कमल तक पहुँचना होता है जहाँ वह उस शक्ति का साक्षात्कार करता है जो सृष्टि की रचनाकार है तथा सबके अस्तित्व का आधार है। अच्युतानंद ने एक कदम आगे बढ़कर अगोचर पुरुष कृष्ण को नित्य शक्ति राधा से ऊपर स्थान दिया है। साधक के काव्य-बिम्बात्मक वर्णन के अनुसार, परम पुरुष कृष्ण उस स्थल पर छुपकर बैठते हैं जहाँ अमृत उत्पन्न होता है, और गगा, यमुना तथा सरस्वती के अजस्र कोश से राधा के उरोज पर बूँद-बूँद टपकता है। वहाँ पर सोलह हजार गोपियाँ वास्तविक कृष्ण की सेवा करती है। सहस्रपत्र कमल का पुन अंतरस्थ वृदावन कुज के रूप मे वर्णन है। वहाँ कृष्ण राधा के शरीर पर अपने पदभार के बल खडे हैं तथा उनकी कटि पर अपना संतुलन बनाए हुए हैं।

इस नित्य रास के सहभागी साधक के लिए साक्षात्कार के ऊर्ध्वगामी मार्ग का वर्णन इस प्रकार किया गया है हमें ऊर्ध्वगति कर सहस्रपत्र कमल रूपी आसन तक पहुँचना है और वहाँ नित्य राधा के दर्शन करने हैं। इस बिंदु को भी केवल यात्रा-कालीन विश्रामस्थल मानकर आगे बढते हुए कृष्ण के—अपने वास्तविक रूप मे अनादि कृष्ण के – दर्शन करते है। उपर्युक्त वर्णन से पाठको को उडीसा मे प्रचलित साधना-पद्धति की विशिष्टता की झाँकी मिल जाती है। नित्य रास मे भागग्रहण का तात्पर्य है शक्ति के साक्षात्कार से आगे जाना तथा परम पुरुष के लोक तक, नर-नारी द्वन्द्व के सिद्धात से परे, पहुँचना। यह आध्यात्मिक महत्त्व, सभवत उडीसा मे प्रचलित साधना-पद्धति पर दिये जाने वाले विशेष बल का एक विशिष्ट पक्ष है। इस प्रकार अच्युतानंद की एक छोटी-सी रचना, 'नित्य रहस' मध्ययुगीन उडीसा के साहित्य और धर्म के सबध मे अनुसधान के लिए बडी महत्त्वपूर्ण हो गई है। जब

और अधिक पांडुलिपियाँ मिलेंगी और उनका अध्ययन होगा तब इस विषय पर और प्रकाश पड़ेगा। परंतु यह बात निश्चित है कि गौड़ीय वैष्णव मत से संकेत प्राप्त कर तथा सुपरिचित शब्द 'रास' का प्रयोग करके और इस शब्द की व्याख्या के द्वारा 'परम सत्ता एक है' के सिद्धांत का संकेत करते हुए अच्युतानंद ने जो कार्य किया है यह उस काल के अन्य मतों के लिए अवश्य एक बड़ी असाधारण बात थी, परंतु पंचसखाओं के लिए एक साधारण-सी बात थी। यदि वह गौड़ीय परम्परा के एक सामान्य वैष्णव भक्त मात्र होते अथवा परम्परागत तंत्र साहित्य के मार्ग का अनुसरण करते तो वह ऐसी बात न कर पाते। पंचसखाओं का लक्ष्य था समन्वय। वे सब मार्गों का सारतत्त्व ग्रहण करते तथा प्रत्येक मार्ग को पूर्ण तथा समन्वयशील दृष्टि तथा आकांक्षा से जोड़कर समुचित सार्थकता प्रदान करते।

अब हम वहीं लौट आएँ जहाँ से चले थे। पंचसखा केवल चैतन्यवादी न थे, न ही यह सच है कि चैतन्य ही उड़ीसा में वैष्णववाद बाहर से लाए थे। पंचसखा चैतन्यवादी होने से काफ़ी कुछ अधिक थे। वे चैतन्य के समकालीन थे और एक ऐसी परम्परा के उत्तराधिकारी थे जिसका अपना ही आधार था तथा अपने ही ढंग से जिसका विकास हुआ था। श्री चैतन्य जब उड़ीसा में पहुँचे तब वहाँ वैष्णववाद और भक्ति आंदोलन पूर्णतया व्याप्त थे। उन्होंने उन्हें केवल अपनी छाप से और समृद्ध किया। राजा को अपने पक्ष में कर लेने के कारण उन्हें तुरत सफलता मिल गई। इसका एक और परिणाम यह हुआ कि उड़िया वैष्णव, जिनमें पंचसखा शामिल थे, राजा की कृपा से वंचित हो गए। उन्हें अपमान का सामना करना पड़ा और राज्याश्रय छोड़कर अन्यत्र शरण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। यह बड़ी रोचक बात है कि पंचसखाओं के बाद उनके समशील अधिकतर कवियों तथा साधकों को राजधानी से दूर वनों, गुफाओं और गाँवों में चले जाना पड़ा। तब से उड़ीसा में वैष्णव भक्ति की दो धाराएँ चल रही हैं और वे एक दूसरे में मिलने की इच्छुक नहीं—गौड़ीय परम्परा मठों में है तथा उड़िया परम्परा गद्दियों में। दोनों की असमानताएँ आज तक विद्यमान हैं।

पंचसखा साहित्य तक में इस असमानता के सूत्र विद्यमान हैं। पंचसखा, जिनमें बलराम दास शामिल थे, खुले तौर पर यह मानते थे कि उन्हें श्री चैतन्य के निकट आने तथा उनसे दीक्षा प्राप्त करने का आदेश भगवान जगन्नाथ से प्राप्त हुआ था। राजा प्रताप रुद्र देव द्वारा श्री चैतन्य से दीक्षा प्राप्त करने के पीछे भी उन्होंने भगवान जगन्नाथ को ही प्रेरणा माना। जब स्वयं भगवान ही उनके परम गुरु थे तब आध्यात्मिक उपासना के क्षेत्र में श्री चैतन्य जैसे सिद्ध पुरुष को अपना गुरु मानने तथा उनके उद्देश्य और संदेश से प्रेरणा प्राप्त करने में उन्हें कोई कठिनाई न थी। पंचसखा के लगभग समकालीन एक साधक कवि ईश्वर दास ने भी चैतन्य

जगदेव को रथ की अधिकृत गौड़ीय वंशित हुए उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, तथा ओड़िया रथ पूजा मानते हैं—जगन्नाथ के कारण यह बात भी मानी जाती है।

पंचसखा भक्ति रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ भगवान् जगन्नाथ की ही वंदना करते हैं, यद्यपि वे पुरी प्रवास की अवधि में श्री चैतन्य के उतने ही निकट थे जितने उनके साथ बंगाल से आए भक्त जन तथा अनुयायी थे। यह मानना सर्वथा उचित है कि यद्यपि पंचसखा चैतन्य महाप्रभु से दीक्षित हुए तथा अपने महान गुरु के अति निकट भी थे तथापि वे उड़ीसा की धार्मिक परम्परा की मूल भावना के प्रति सदैव सजग रहे। इसकी भक्ति में सर्वदा निरंतरता रही है और इसमें तंत्र और योग का असर भी समाविष्ट रहा है। पंचसखा मत की दृष्टि तथा स्वरूप गौड़ीय वैष्णव मत की कठोर सीमाओं में बंधे नहीं हैं। यही कारण है कि गौड़ीय वैष्णव धारा पंचसखा को अविश्वसनीय मानती है और यहां तक कि उनके अस्तित्व को भी स्वीकार न करने की प्रवृत्ति उसमें दीखती है। यहां तक कि उस जगन्नाथ को भी ऐसे-ऐसे गौड़ीय वैष्णव विद्वानों ने, जो श्री चैतन्य के अंतरंग सहयोगी थे, उपेक्षा कर दी जिसे उड़िया भाषा में श्रीमद्भागवत की रचना करने पर स्वयं श्री चैतन्य ने 'अतिवादी' की उपाधि प्रदान की थी और जिन्हें समस्त वैष्णव जगत् में आदर का स्थान प्राप्त था। चैतन्यवादियों में जगन्नाथ दास के प्रति अवज्ञा की प्रवृत्ति अब तक चली आ रही है। यद्यपि जगन्नाथ दास का पुरी स्थित वह आवास जिसमें वे रहते थे तथा ईश्वर-समर्पित जीवन व्यतीत करते थे, गौड़ीय वैष्णव मठ के वर्तमान भवन के काफी नजदीक है, तथापि गौड़ीय वैष्णव वहां जाते तक नहीं। यह विडम्बना ही है कि स्वयं श्री चैतन्य तो ओड़िया भागवत के बड़े प्रशंसक थे, पर उनके निकट अनुयायियों को उसमें अप्रामाणिक सामग्री और अवांछित परिवर्तनों की भरमार दिखाई दी। इस सबसे यही पता चलता है कि श्री चैतन्य की मृत्यु के बाद ही इस प्रकार के वैरभाव पनपने लगे थे। यहां तक कि गौड़ीय वैष्णव मत के ओड़िया खेमे के अनुयायियों ने पंचसखाओं की वाणी और कार्यावली के उल्लेख और चर्चा को बड़ी सावधानी के साथ निकाल बाहर किया है। माधव पट्टनायक का 'चैतन्य विलास' इसका एक स्पष्ट उदाहरण है।

इस संदर्भ में उस अवधि के आंदोलनों और विरोधों के अध्ययन के लिए ईश्वर दास की उड़िया पुस्तक 'चैतन्य भागवत' का विशेष महत्व है। इस पुस्तक में ईश्वर दास का पूर्णतया निष्पक्ष दृष्टिकोण दिखाई देता है जिसके लिए उन्हें बड़ा सम्मान प्राप्त है। इस पुस्तक में उन्होंने किसी पक्ष के समर्थन या विरोध में कोई बात नहीं कही। ईश्वर दास ने श्री चैतन्य को बुद्धावतार कहा है। लगभग सभी पंचसखाओं ने श्री चैतन्य को भगवान जगन्नाथ से अभिन्न माना है तथा भगवान जगन्नाथ को परात्पर देव मानते हुए बुद्ध को उनका अवतार कहा है। चैतन्य भागवत में योग और तंत्र का संदर्भ बार-बार आता है। उनमें से एक योगी का

निस्संदेह, गौड़ीय वैष्णव साहित्य में नित्य रास की संकल्पना के संदर्भ बीच बीच में आते रहे हैं तथा अपने आध्यात्मिक आधार की चर्चा में गौड़ीय वैष्णवों ने इस संकल्पना को अपनाया है, परंतु वास्तविक साधना और व्यवहार में इस संकल्पना के प्राय दर्शन नहीं होते। इसका कारण यह था कि जब चैतन्य वैष्णववाद जन जनता में इतने बड़े पैमाने पर और शीघ्रता से फैला तो उसके लिए अपनी आचार-निष्ठता तथा मूल दार्शनिकता को बनाए रखना असंभव हो गया। समाज के विभिन्न वर्गों से शिष्यों के झुंड-के-झुंड जमा होने लगे—आम आदमी से लेकर राजा तक। कीर्तन आदि नई-नई बातों की ओर लोग आकृष्ट होने लगे और सबके सिर पर नया जादू सवार हो गया। लगता है कि श्री चैतन्य को आंदोलन की इस विकेन्द्रीयता और अति फैलाव के खतरे का आभास हो गया, परंतु उन्होंने इसे इसलिए स्वीकार कर लिया क्योंकि वे इसे नियंत्रित करने में समर्थ न थे। उड़ीसा की चिरकालीन तंत्रनिष्ठता तथा जगत् के प्रति बौद्ध दृष्टिकोण से उड़िया वैष्णववाद को अपनी गहरी दर्शनिष्ठता को सुरक्षित रखने में मदद मिली। पंचसखा साहित्य में, रचना चाहे छोटी या बड़ी। यह सब इतना स्पष्ट है कि सभी भक्त कवि बार-बार अपने मूल तत्वों का संकेत करते हैं—तब भी जब वे बाह्य विधानों का वर्णन कर रहे होते हैं। गोपियों के साथ कृष्णलीला के और यहाँ तक कि कदम्ब वृक्ष के वर्णन में प्रतीकात्मक व्यंजनाएँ सहित विद्यमान हैं।

वैष्णववाद की चर्चा करते हुए वे उनके बाह्य विधान में ही फँस कर नहीं रह गए। उन्होंने कुछ बाह्य विधि-विधानों को शासन के रूप में अवश्य स्वीकार किया, परन्तु उनका हृदय हमेशा जगन्नाथ पर, भगवान पर, केंद्रित था जो उनके लिए सर्वस्व के प्रतीक थे। बावजूद इसके कि गौड़ीय वैष्णव आंदोलन को राजा का समर्थन और संरक्षण प्राप्त हो गया था और अतएव वातावरण उसके अनुकूल हो गया था, पंचसखा अपने मूल को न भूले और उससे निरन्तर जुड़े रहे। उनकी यह प्रवृत्ति इस बात की चेतावनी थी कि इन्हें बाह्य प्रकाश के चकाचौंध में नहीं फँसना है। उन्होंने खुले तौर पर ऐलान किया कि बहुत-से छद्मवेशी साधुओं का वेश धारे घूम रहे हैं और अपने को भगवान का भक्त और भक्तों का गुरु कहते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि जब राजा की स्वीकृति से अधिक लोग आध्यात्मिक प्रेरणा का विचार किए बिना, गौड़ीय वैष्णव धारा में शामिल हो रहे थे और फलस्वरूप पुरी में यह सब कुछ उनकी आँखों के सामने हो रहा था, पंचसखाओं ने इन बातों के बारे में कहीं कुछ न कहा।

हम यह बात दुबारा कहना चाहेंगे कि श्री चैतन्य उड़ीसा मे इसलिए आए कि उड़ीसा मे काफी पहले से वैष्णव मत का प्रचार था। उनके लिए उड़ीसा आना एक तीर्थयात्रा थी। पुरी मंदिर के अधिष्ठाता देवता मे वे लीन हो गए। उन्होंने बलराम दास और जगन्नाथ दास जैसे आत्मसाक्षात्कारी प्रभुभक्तों को तुरत मान्यता प्रदान की। परतु उनके कुछ शिष्य, जिनमे से कुछ उनके साथ बगाल से आए थे और कुछ वही दीक्षित हुए थे, इस बात से नाखुश हुए। लगता है कि पंथ मे इस बात को लेकर मतभेद और कटुता का वातावरण बन गया था। निश्चय ही पंच-सखाओं ने इस फूट को भाँप लिया होगा। उन्होंने निश्चय किया कि वे श्री चैतन्य के प्रति अपनी निष्ठा और भक्ति की तिलाजलि दिए बिना, अपनी स्थानीय विरासत के सिद्धातों पर दृढ रहेंगे। अपने भक्तों मे विवाद होता हुआ देखकर श्री चैतन्य को वेदना हुई और वे उनकी ओर से उदासीन होकर आत्मनिष्ठ हो गए। वे भगवान जगन्नाथ के अधिक-से-अधिक निकट होते चले गए और अपने चारो ओर होने वाली घटनाओ के प्रति उदासीन हो गए। दिलचस्पी की बात तो यह है कि श्री चैतन्य के पुरी-प्रवास के अंतिम चरण में पंचसखा तथा अन्य उड़िया वैष्णव उनके क्रमश. निकट आते चले गए और उनके अपने चेले-चांटे उनसे दूर जाते प्रतीत होने लगे। हम कह सकते है कि दोनों गुटो मे एक स्पष्ट खाई बनती चली गई जिसमें दोनो के अंतत अलग-अलग हो जाने का स्पष्ट संकेत था।

अब यहाँ से हम दिवाकर दास के जगन्नाथ चरितामृत को अपना आधार ग्रंथ मानकर चलेंगे। यह पुस्तक यद्यपि पंचसखाओ मे से एक, जगन्नाथ, की जीवनी है तथापि इसमें श्री चैतन्य के पुरी-प्रवास के अंतिम चरण मे जो कुछ हुआ उसका कौतूहलपूर्ण तथा साकेतिक शैली मे पर्याप्त वर्णन मिलता है। दिवाकर दास,

वैष्णवों की खीझ और भी बढ़ गई। परिणाम यह हुआ कि सुलह न हो सकी और श्री चैतन्य के पुराने साथी जाजपुर छोड़कर वृंदावन चले गए। दिवाकर दास कहते हैं कि शिष्यों ने महाप्रभु से एक और अनुरोध किया कि वे भी पुरी छोड़कर उनके (शिष्यों के) साथ चले आएँ जिससे उन्हें महाप्रभु के सान्निध्य में रहने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। परन्तु महाप्रभु ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि वे आजीवन पुरी में ही रहने का निश्चय कर चुके हैं। दिवाकर दास कहते हैं कि इस प्रकार राहों का अलग-अलग हो जाना निश्चित था. जो भक्त वृंदावन चले गए उन्होंने उन विधि-विधानों को त्याग दिया जिनका वे पुरी में रहते हुए पालन करते थे। *उन्होंने साम्प्रदायिकता सूचक तिलक लगाना आरंभ* कर दिया, तथा पुनः अपने पुराने मंत्र को अपना लिया। उन्होंने भगवान जगन्नाथ के स्थान पर मदनमोहन की पूजा प्रारंभ कर दी, और कल्पतरु के स्थान पर कदम्ब को अपना लिया।

इन कथाओं की सचाई में थोड़े-बहुत संदेह की गुंजाइश हो सकती है, परन्तु यह बात सत्य है कि गौड़ीय वैष्णव भक्ति के आंदोलन में विभाजन हुआ तथा कुछ लोग महाप्रभु का साथ छोड़ गए। यद्यपि जगन्नाथ दास के एक शिष्य दिवाकर दास ने अवश्य यह बात कही है कि महाप्रभु ने जगन्नाथ दास को जो विशेष सम्मान और पद प्रदान किया उससे उत्पन्न ईर्ष्या भाव के कारण यह विघटन की स्थिति आई, तथापि इसके वास्तविक कारण कुछ अधिक गहरे प्रतीत होते हैं। विभाजन का मूल कारण मनोवृत्तियों का मौलिक अंतर था। महाप्रभु चैतन्य की दृष्टि बाह्य कर्मकांड से भी आगे जाती थी, परंतु नवद्वीप से आए उनके शिष्य कर्मकांड तक ही सीमित रह गए। पुरी में पहले से ही प्रतिष्ठित महान परम्परा की समन्वय-भावना तथा प्रभावशक्ति से श्री चैतन्य के मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ तथा वे स्वयं अपने द्वारा स्थापित व्यवस्था की सीमाओं को तोड़कर उनसे आगे भी देख सके। वे पुरी लौट आए तथा अपने जीवन के शेष दिन उन्होंने अपने ओड़िया शिष्यों के साथ बिताए। पंचसखा भी उनकी शिष्य मंडली में थे। रूप, सनातन तथा अन्य गौड़ीय वैष्णव वृंदावन में प्रतिष्ठित हो गए।

श्री चैतन्य (सम्प्रदाय और साहित्य) के बंगाली विशेषज्ञ यह तो मानते हैं कि विघटन की घटना, जिसके कारण वैष्णव धारा दो भागों में विभक्त हो गई, सच है। परन्तु घटना के उपर्युक्त विवरण को स्वीकार न कर सकने में एक कारण यह बताया है कि श्री चैतन्य के शिष्य इतने ईर्ष्यालु तथा नीच मनोवृत्ति के होंगे, यह मानना कठिन है। कुछ हो, धर्मों के इतिहास में उन विभाजनों के सुप्रमाणित उदाहरणों की कमी नहीं जो बाह्य कर्मकांड के समर्थक और विरोधी व्यक्तियों के तथा उन शिष्यों के कारण हुए जिन्होंने अति उत्साह में अपने गुरु की शिक्षाओं को गलत समझते हुए गुरु का ही खंडन कर डाला। कर्मकांड पर अधिक बल

वैष्णवों की खीझ और भी बढ़ गई। परिणाम यह हुआ कि सुलह न हो सकी और श्री चैतन्य के पुराने साथी जाजपुर छोड़कर वृंदावन चले गए। दिवाकर दास कहते हैं कि शिष्यों ने महाप्रभु से बार और अनुरोध किया कि वे भी पुरी छोड़कर उनके (शिष्यों के) साथ चले आएँ जिससे उन्हें महाप्रभु के सान्निध्य में रहने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। परन्तु महाप्रभु ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि वे आजीवन पुरी में ही रहने का निश्चय कर चुके हैं। दिवाकर दास कहते हैं कि इस प्रकार गुटों का अलग-अलग हो जाना निश्चित था जो भक्त वृंदावन चले गए उन्होंने उन विधि विधानों का त्याग कर दिया जिनका वे पुरी में रहते हुए पालन करते थे। उन्होंने साम्प्रदायिक सूचक तिलक लगाना आरंभ कर दिया, तथा पुनः अपने पुराने मंत्र को अपना लिया। उन्होंने भगवान जगन्नाथ के स्थान पर मदनमोहन की पूजा प्रारंभ कर दी, और कल्पतरु के स्थान पर कदम्ब को अपना लिया।

इन कथाओं की सचाई में थोड़े-बहुत संदेह की गुंजाइश हो सकती है, परंतु यह बात सत्य है कि गौड़ीय वैष्णव भक्ति के आंदोलन में विभाजन हुआ तथा कुछ लोग महाप्रभु का साथ छोड़ गए। यद्यपि जगन्नाथ दास के एक शिष्य दिवाकर दास ने अवश्य यह बात कही है कि महाप्रभु ने जगन्नाथ दास को जो विशेष सम्मान और पद प्रदान किया उससे उत्पन्न ईर्ष्या भाव के कारण यह विघटन की स्थिति आई, तथापि इसके वास्तविक कारण कुछ अधिक गहरे प्रतीत होते हैं। विभाजन का मूल कारण मनोवृत्तियों का मौलिक अंतर था। महाप्रभु चैतन्य की दृष्टि बाह्य कर्मकांड से भी आगे जाती थी, परंतु नवद्वीप से आए उनके शिष्य कर्मकांड तक ही सीमित रह गए। पुरी में पहले से ही प्रतिष्ठित महान परम्परा की समन्वय-भावना तथा प्रभावशक्ति से श्री चैतन्य के मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ तथा वे स्वयं अपने द्वारा स्थापित व्यवस्था की सीमाओं को तोड़कर उनसे आगे भी देख सकें। वे पुरी लौट आए तथा अपने जीवन के शेष दिन उन्होंने अपने ओडिया शिष्यों के साथ बिताए। पंचसखा भी उनकी शिष्य मंडली में थे। रूप, सनातन तथा अन्य गौड़ीय वैष्णव वृंदावन में प्रतिष्ठित हो गए।

श्री चैतन्य (सम्प्रदाय और साहित्य) के बंगाली विशेषज्ञ यह तो मानते हैं कि विघटन की घटना, जिसके कारण वैष्णव धारा दो भागों में विभक्त हो गई, (व है। परंतु घटना के उपर्युक्त विवरण को स्वीकार न कर सकने में एक कारण (ह बताया है कि श्री चैतन्य के शिष्य इतने ईर्ष्यालु तथा नीच मनोवृत्ति के होंगे, (ह मानना कठिन है। कुछ हो, धर्मों के इतिहास में उन विभाजनों के सुप्रमाणित उदाहरणों की कमी नहीं जो बाह्य कर्मकांड के समर्थक और विरोधी प्रतिद्वंद्वियों के तथा उन शिष्यों के कारण हुए जिन्होंने अति उत्साह में अपने गुरु की शिक्षाओं को गलत समझते हुए गुरु का ही खंडन कर डाला। कर्मकांड पर अधिक बल

वैष्णवो की खीझ और भी बढ गई। परिणाम यह हुआ कि सुलह न हो सकी और श्री चैतन्य के पुराने साथी जाजपुर छोडकर वृदावन चले गए। दिवाकर दास कहते हैं कि शिष्यो ने महाप्रभु से एक और अनुरोध किया कि वे भी पुरी छोडकर उनके (शिष्यो के) साथ चले आएँ जिससे उन्हे महाप्रभु के सान्निध्य मे रहने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। परतु महाप्रभु ने इसे स्वीकार नही किया। उन्होने कहा कि वे आजीवन पुरी मे ही रहने का निश्चय कर चुके है। दिवाकर दास कहते है कि इस प्रकार रास्तो का अलग-अलग हो जाना निश्चित था। जो भक्त वृदावन चले गए उन्होने उन विधि-विधानो को त्याग दिया जिनका वे पुरी मे रहते हुए पालन करते थे। उन्होने साम्प्रदायिकता सूचक तिलक लगाना आरभ कर दिया, तथा पुन अपने पुराने मत्र को अपना लिया। उन्होने भगवान जगन्नाथ के स्थान पर मदनमोहन की पूजा प्रारभ कर दी, और कल्पतरु के स्थान पर कदम्ब को अपना लिया।

इन कथाओ की सचाई मे थोडे-बहुत सदेह की गुजाइश हो सकती है, परतु यह बात सत्य है कि गौडीय वैष्णव भक्ति के आदोलन मे विभाजन हुआ तथा कुछ लोग महाप्रभु का साथ छोड गए। यद्यपि जगन्नाथ दास के एक शिष्य दिवाकर दास ने अवश्य यह बात कही है कि महाप्रभु ने जगन्नाथ दास को जो विशेष सम्मान और पद प्रदान किया उससे उत्पन्न ईर्ष्या भाव के कारण यह विघटन की स्थिति आई, तथापि इसके वास्तविक कारण कुछ अधिक गहरे प्रतीत होते हैं। विभाजन का मूल कारण मनोवृत्तियो का मौलिक अतर था। महाप्रभु चैतन्य की दृष्टि बाह्य कर्मकाड मे भी आगे जाती थी, परतु नवद्वीप से आए उनके शिष्य कर्मकाड तक ही सीमित रह गए। पुरी मे पहले से ही प्रतिष्ठित महान परम्परा की समन्वय-भावना तथा प्रभावशक्ति से श्री चैतन्य के मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ तथा वे स्वय अपने द्वारा स्थापित व्यवस्था की सीमाओ को तोडकर उनसे आगे भी देख सके। वे पुरी लौट आए तथा अपने जीवन के शेष दिन उन्होने अपने ओडिया शिष्यो के साथ बिताए। पचसखा भी उनकी शिष्य मडली मे थे। रूप, सनातन तथा अन्य गौडीय वैष्णव वृदावन मे प्रतिष्ठित हो गए।

श्री चैतन्य (सम्प्रदाय और साहित्य) के बगाली विशेषज्ञ यह तो मानते हैं कि विघटन की घटना, जिसके कारण वैष्णव धारा दो भागो मे विभक्त हो गई, सच है। परतु घटना के उपर्युक्त विवरण को स्वीकार न कर सकने मे एक कारण यह बताया है कि श्री चैतन्य के शिष्य इतने ईर्ष्यालु तथा नीच मनोवृत्ति के होगे, यह मानना कठिन है। कुछ हो, धर्मो के इतिहास मे उन विभाजनो के सुप्रमाणित उदाहरणो की कमी नही जो बाह्य कर्मकाड के समर्थक और विरोधी प्रवृत्तियो के तथा उन शिष्यो के कारण हुए जिन्होने अति उत्साह मे अपने गुरु की शिक्षाओ को गलत समझते हुए गुरु का ही खडन कर डाला। कर्मकाड पर अधिक बल

वैष्णवों की रोष और भी बढ़ गई। परिणाम यह हुआ कि सुलह न हो सकी और श्री चैतन्य के पुराने साथी जाजपुर छोड़कर वृंदावन चले गए। दिवाकर दास कहते हैं कि शिष्यों ने महाप्रभु से एक और अनुरोध किया कि वे भी पुरी छोड़कर उनके (शिष्यों के) साथ चले आएँ जिससे उन्हें महाप्रभु के सान्निध्य में रहने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। परंतु महाप्रभु ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि वे आजीवन पुरी में ही रहने का निश्चय कर चुके हैं। दिवाकर दास कहते हैं कि इस प्रकार रास्तों का अलग-अलग हो जाना निश्चित था। जो भक्त वृंदावन चले गए उन्होंने उन विधि विधानों को त्याग दिया जिनका वे पुरी में रहते हुए पालन करते थे। उन्होंने साम्प्रदायिकता सूचक तिलक लगाना आरंभ कर दिया, तथा पुनः अपने पुराने मंत्र को अपना लिया। उन्होंने भगवान जगन्नाथ *के स्थान पर मदनमोहन की पूजा प्रारंभ कर दी, और कल्पतरु के स्थान पर कदम्ब* को अपना लिया।

इन कथाओं की सचाई में थोड़े-बहुत संदेह की गुंजाइश हो सकती है, परंतु यह बात सत्य है कि गौड़ीय वैष्णव भक्ति के आंदोलन में विभाजन हुआ तथा कुछ लोग महाप्रभु का साथ छोड़ गए। यद्यपि जगन्नाथ दास के एक शिष्य दिवाकर दास ने अवश्य यह बात कही है कि महाप्रभु ने जगन्नाथ दास को जो विशेष सम्मान और पद प्रदान किया उससे उत्पन्न ईर्ष्या भाव के कारण यह विघटन की स्थिति आई, तथापि इसके वास्तविक कारण कुछ अधिक गहरे प्रतीत होते हैं। विभाजन का मूल कारण मनोवृत्तियों का मौलिक अंतर था। महाप्रभु चैतन्य की दृष्टि बाह्य कर्मकांड से भी आगे जाती थी, परंतु नवद्वीप से आए उनके शिष्य कर्मकांड तक ही सीमित रह गए। पुरी में पहले से ही प्रतिष्ठित महान परम्परा की समन्वय-भावना तथा प्रभावशक्ति से श्री चैतन्य के मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ तथा वे स्वयं अपने द्वारा स्थापित व्यवस्था की सीमाओं को तोड़कर उनसे आगे भी देख सके। वे पुरी लौट आए तथा अपने जीवन के शेष दिन उन्होंने अपने ओडिया शिष्यों के साथ बिताए। पंचसखा भी उनकी शिष्य मंडली में थे। रूप, सनातन तथा अन्य गौड़ीय वैष्णव वृंदावन में प्रतिष्ठित हो गए।

श्री चैतन्य (सम्प्रदाय और साहित्य) के बंगाली विशेषज्ञ यह तो मानते हैं कि विघटन की घटना, के कारण वैष्णव धारा दो भागों में विभक्त हो गई, सच ण को स्वीकार न कर सकने में एक कारण
नीच मनोवृत्ति के होंगे,
वभाजनों के सुप्रमाणित
और विरोधी प्रतिद्वंद्वियों
ह में अपने गुरु की शिक्षाओं
। कर्मकांड पर अधिक बल

जिस प्रकार गोपीनाथ, यार बन जाता है और गुरु, पत्थर की मूर्ति हो जाते हैं। अतः दुनियादारी के मोह में आंतरिक आध्यात्मिक शक्तिसंग्रह की आवश्यकता महसूस हो जाती है। जहाँ तक इस प्रकरण का संबंध है, वैष्णवों के दो वर्गों के बीच मतभेद की शुरुआत चैतन्य के जीवन काल में ही हो गई थी। गौड़ीय वैष्णव मत उड़ीसा की धरती पर फल-फूल नहीं पा रहा था। राजा के संरक्षण से इसे अधिक शक्ति मिल गई थी परंतु जनता के हृदयों में स्थान बना लेना कुछ दूसरी ही बात थी। ज्यों ज्यों श्री चैतन्य का पुरी-प्रवास लंबा होता गया और पंचसखाओं से उनकी घनिष्टता बढ़ती गई त्यों-त्यों वे ओड़िया वैष्णव परम्परा के निकट आते गए। श्री चैतन्य की बाङ्ला में लिखित जीवनियों में उनके पुरी-प्रवास की अवधि का उल्लेख लगभग न के बराबर है। उनमें केवल न्यूनतम तथ्यों का वर्णन है, जैसे महाप्रभु के अंतिम दिन पुरी में व्यतीत हुए और वहीं पर उन्होंने शरीर त्याग किया। यह चूक मात्र आकस्मिक नहीं, लगता यही है कि यह जानबूझकर की गई है। बलराम, अच्युतानंद और जगन्नाथ ने मुक्त कंठ से अपने गुरु श्री चैतन्य का यशोगान किया है, परंतु गौड़ीय वैष्णव ग्रंथ इस प्रसंग के विषय में मौन हैं, जिससे यही प्रकट होता है कि यह गौड़ीय वैष्णव साहित्य से पंचसखाओं के उल्लेख को निकाल देने का प्रयत्न है। इसमें तो पाठक को दिवाकर दास की यह कहानी कि श्री चैतन्य के पुरी प्रवास के अंतिम दिनों में उनके गौडीय शिष्य उनके साथ न थे, विश्वसनीय-सी प्रतीत होगी, और इससे यह अनुमान लगाना भी उचित ही होगा कि इस अवधि में महाप्रभु भावनात्मक दृष्टि से ओड़िया वैष्णव धारा के बहुत समीप आ गए थे।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि श्री चैतन्य का उत्कल प्रवास प्रसंग तथा पंचसखाओं से उनके संबंध, इन दोनों पर रहस्य का पर्दा पड़ा है। श्री चैतन्य की लीला के इस चरण के वर्णन से संबंधित जिन ओड़िया पांडुलिपियों का गहरा अध्ययन किया गया है उनकी संख्या बहुत कम है। परंतु बंगाल तथा उड़ीसा के अनेक विद्वानों ने इस बात के संकेत दिये हैं कि उपर्युक्त कोटि की कुछ पांडुलिपियों की उपलब्धता की उन्हें जानकारी है। श्री चैतन्य के उत्कल प्रवास के विषय में ओड़िया भाषा में जो भी साहित्य उपलब्ध है वह मात्र पंचसखा साहित्य ही है। इस विषय में अधिक सूचना प्राप्त करने के लिए हमें उस साहित्य की खोज करनी पड़ेगी जो अभी तक अज्ञात है। बाङ्ला ग्रंथों में इस प्रसंग के विषय में अधिक सूचना प्राप्त होने की संभावना न होने के कारण हमें नवीन ओड़िया स्रोतों की खोज पर निर्भर रहना होगा। तब तक विद्वानों को, पंचसखा साहित्य के अतिरिक्त, निम्नलिखित दो बहुमूल्य ग्रंथों पर निर्भर रहना होगा : ईश्वर दास का चैतन्य भागवत और दिवाकर दास का ज[illegible]

6

भाषा और समाज पर प्रभाव

बौद्ध साहित्य की एक रचना 'चुल्लवग्ग' के अनुसार एक बार कुछ ब्राह्मण बुद्ध के पास आए और उनसे शिकायत की कि अशिक्षित लोग जनसाधारण की भाषा में उनकी (बुद्ध की) शिक्षाओं का उच्चारण कर उनकी (शिक्षाओं की) पवित्रता को नष्ट कर रहे हैं। उन्होंने बुद्ध को यह परामर्श दिया कि वे संस्कृत में अपने उपदेश दें जिससे वे (उपदेश) इस प्रकार अपवित्र न हों। बुद्ध ने विद्वान् ब्राह्मणों की यह सलाह नहीं मानी क्योंकि, उनके अनुसार, वे चाहते थे कि हर व्यक्ति उनके उपदेशों को अपनी भाषा में, जिसे वह बोलता और समझता है, प्राप्त करे। इस प्रकार बुद्ध ने जनसाधारण को, उन्हीं की बोलचाल की भाषा में, उपदेश देना तथा अपने दृष्टिकोण से परिचित कराना जारी रखा। प्रत्येक भारतीय भाषा का इस बात का अपना ही इतिहास है कि किस प्रकार वह संस्कृत से अलग हुई, मानो अपनी माँ का दामन छोड़कर अपने पैरों पर खड़ी हुई, और अभिव्यक्ति का अपने में पूर्ण माध्यम बनी। एक समय था जब लोग यह मानते थे कि विद्वानों के सर्वश्रेष्ठ विचारों की अभिव्यक्ति केवल संस्कृत में ही संभव है। बोलचाल की (अनौपचारिक) भाषा, लिखित (औपचारिक) भाषा से सदा भिन्न तथा अधिक बोधगम्य रही है, और कोई भी यह बात नहीं मानता था कि वस्तुतः गंभीर तथा महत्त्वपूर्ण चर्चा, उसकी शुद्धता को सुरक्षित रखते हुए, बोलचाल की भाषा में की जा सकती है।

पूर्वांचल की भाषाओं का जहाँ तक संबंध है, घूमते-रमते सिद्धों ने सातवीं और आठवीं शताब्दी में बोलचाल की भाषा को जनसाधारण के साथ सम्पर्क का माध्यम बनाकर एक नई शुरुआत की। उनमें से कुछ को वास्तव में उड़ीसा का माना जा सकता है, उनके नाम हैं लुइपा, सरहपा और कण्हपा। उनकी गिनती उन अगुओं में की जानी चाहिए जिन्होंने तथाकथित पावन रूढ़ि को तोड़ा और संस्कृत के स्थान पर आम लोगों की भाषा में प्रचार किया और कविता लिखी।

सकता जब तक धर्मनेता अपने ज्ञान को उसी भाषा तक सीमित रखेंगे जिसको आम आदमी व्यवहार मे नही लाता। उत्तर भारत की समूची सत-परम्परा शीघ्र ही इस नई राह पर चल पडी और उसने भाषा को समृद्धि के धरातल पर ला खडा किया। रामानद के शिष्य कबीर के शब्द 'ससकीरत है कूप जल भाखा बहता नीर' प्रसिद्ध हैं। भारतीय भाषाओं के किसी भी प्रकार के अध्ययन मे सारळा दास और पचसखाओ की गणना उसी कोटि मे होगी जिसमे कबीर तथा उनके सदृश अन्य लेखकों की। बलराम दास का जगमोहन रामायण, जगन्नाथ दास का भागवत, और अच्युतानद का हरिवश, तथा इन्ही के साथ बलराम और जगन्नाथ कृत गीता के अनुवाद ऐसी सर्जनात्मक रचनाएँ हैं जिन्होने बोलचाल की ओडिया को ऊँचे धरातल पर पहुँचा दिया। स्मरण रहे कि पचसखा—विशेष रूप से बलराम जगन्नाथ और अच्युतानद—स्वयं सस्कृत के प्रकाड पडित थे, महान् परम्परा की मूल सस्कृत रचनाओं तक उनकी पहुँच थी, परतु निरपवाद रूप से, उन्हे सस्कृत मे लिखने की प्रेरणा कभी नही हुई। उनका सारा उपलब्ध लेखन कार्य ओडिया मे है—सरल सहज, ओडिया जिसमे न पाडित्य का प्रदर्शन है न शैली का पर्भोदापन। इसके विपरीत स्थिति पैदा की पुरुषोत्तम देव और प्रतापरुद्र देव जैसे राजाओं ने, जो इस अवधि मे उत्कल प्रदेश के शासक तथा ज्ञान विज्ञान के सरक्षक थे। उन्होने सस्कृत को न केवल सरक्षण प्रदान किया परतु विद्वन्मडली मे मान्यता पाने के लिए सस्कृत मे काव्य रचना भी की या जैसा कि उस समय चलन था, अपने नाम से पडितो के द्वारा करवाई—वे पडित जो उनके दरबार की शोभा थे तथा दरबारगीरी भी करते थे। सस्कृत ही उस समय का नियम था। पचसखा उस स्थिति को बदलना चाहते थे। उन्होने ओडिया मे लिखना आरभ किया तथा मूल सस्कृत रचनाओ को बोलचाल की भाषा का वेश प्रदान कर उन्हें आम आदमी के निकट ले आए जिससे हर आदमी उन्हे समझ सके।

विस्तार और प्रसार की उस परम्परा मे हम कोइलि, चौतीसा, और भजन की विधाओ की सम्पदा को भी शामिल कर सकते है जो सारळा दास और पचसखाओ के महान अतीत से अब तक हमारे साथ है। इसे आश्चर्य की बात न समझा जाए कि जिस प्रदेश की एक चौथाई से भी कम जनता साक्षर हो उसकी बहुसख्यक जनता के साहित्यिक स्तर का सकेत हमे कोइलि, चौतीसा, भजन, और ओडिया पुराण से प्राप्त होता है। यह निश्चित करना कठिन है कि साहित्य की लोकवार्ता परम्परा का चरण कब समाप्त हुआ और कोइलि आदि का आरम कब से हुआ। इस दृष्टि से तो आधुनिक परम्परा को अभी वस्तुत: प्रतिष्ठित होना है। पचसखाओ के बाद, लिखित साहित्य मे जन सामान्य की भाषा के प्रयोग की प्रवृत्ति कुछ लेखकों मे दिखाई देती है—विशेष रूप से सत और भक्तिवादी कवियो मे, जो राजधानी से दूर चले गए तथा गुफाओ और जगलो मे [illegible]

जगमोहन रामायण में बलराम दास ने इस बात का उल्लेख किया है कि उनके पिता का नाम सोमनाथ महापात्र था और वे उत्कल-राज के एक अधिकारी थे तथा पुरी में तैनात थे। इसलिए लोग उन्हें 'बलराम महापात्र' के नाम से जानते होंगे। इसी प्रकार जगन्नाथ को 'जगन्नाथ मिश्र' और अच्युतानंद को 'अच्युतानंद खुंटिया' होना चाहिए था। जसवंत जाति से क्षत्रिय थे। परंतु उन सबने स्वेच्छा से अपने को 'दास', परमेश्वर का सेवक, कहलाना पसंद किया, जैसा कि उन्होंने स्वयं अपनी रचनाओं में कहा है। अधिक संभावना इसी बात की है कि चैतन्य महाप्रभु के अपने गौड़ीय अनुयायियों के साथ, बंगाल से पुरी आने से पहले ही पंचसखा 'दास' के नाम से जाने जाने लगे थे। उन्होंने जानबूझ कर यह कदम उठाया था। पंचसखा चाहते थे कि जाति, धर्म तथा मानव-निर्मित अन्य सामाजिक भेदभाव की सब रुकावटें दूर कर दी जाएं। ये एक नए समाज का निर्माण करना चाहते थे जो समानता, मानवीय प्रतिष्ठा, तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए समान अधिकार के नवीन मूल्यों पर आधारित होता। यह एक रोचक तथ्य है कि उस अवधि में सारे देश में इस आंदोलन के नेता, सगुण और निर्गुण दोनों कोटियों के भक्त तथा रहस्यवादी थे जिन्होंने जनभाषा में काव्य रचना की। कबीर, नानक, श्री चैतन्य शंकर देव, ज्ञानदेव और नरसी मेहता सभी जातिगत

भेदभाव के विरोधी थे। वे इस विश्वास से अनुप्राणित थे कि मनुष्य इसलिए मनुष्य है कि वह दिव्यता का वाहक है तथा धरती पर अपने जीवन के दौरान दिव्यता की अभिव्यक्ति का दायित्व उस पर है। उनका मत था कि अपनी सर्वोच्च आकांक्षा—परमेश्वर से साक्षात्कार—की सिद्धि के लिए तथा अपने सर्वश्रेष्ठ अंश, अंतरात्मा के आदेश के अनुसार जीवन यापन के लिए, यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य ऐसे समाज में रहे जो सब के गौरव में विश्वास करता हो। वे सब एक ऐसे समाज में जन्मे थे जो विश्वास करता था भेदभाव में, मानव-मानव के बीच दूरी में, जातिवाद में, और एक जाति की अन्य जाति या जातियों पर प्रभुता में। पंचसखाओं की दृष्टि में यह व्यवस्था आध्यात्मिकता की विरोधी तथा मानव द्वारा आध्यात्मिक मूल्यों की सिद्धि के मार्ग में बाधक थी। उन्होंने इस व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा एक नवीन सामाजिक मूल्यों की व्यवस्था स्थापित करने का आह्वान किया—ऐसे मूल्य जो मनुष्य को अधिक मानवीय, अधिक शुद्ध तथा अपनी आन्तरिक भावना के प्रति संवेदनशील बनाने की मानवीय आकांक्षा को शक्ति प्रदान कर सकें। कर्मकांड को अनावश्यक करार दिया गया। जिस बात पर बल दिया गया वह थी परिवर्तन की तत्परता, पुराने शिकंजों में से निकल आने की तत्परता, जिससे जीवन और आकांक्षा की बेहतर संभावनाओं के साथ जीवन व्यतीत किया जा सके। ये भक्त और गायक स्वयं अलग-अलग जातियों के थे, कोई जरूरी न था कि वे उच्चतम तथा अधिकार संपन्न वर्गों के हों। उनमें से अनेक नीच जातियों के थे, और यह आवश्यक नहीं था कि ईश्वर की स्तुति गाने तथा ईश्वरोन्मुख जीवन जीने हेतु अधिक अनुकूल सामाजिक व्यवस्था के पक्ष में आवाज उठाने के लिए वे अपने परम्परागत व्यवसायों से जुड़े रहें। बाह्य सम्प्रदाय सूचक चिह्नों की उपेक्षा कर आंतरिक गुणों के आधार पर मनुष्यों को सम्मान देने पर उनका आग्रह था।

यही तर्क था जिसके आधार पर बलराम महापात्र, बलराम दास हो गए, और पंचसखा मंडली के अन्य सदस्यों ने भी यही किया। शास्त्रों और साधना तक लोगों की पहुँच के मामलों में, वे सब समाज में ब्राह्मणों द्वारा प्रवर्तित अवरोधों का खुलकर विरोध करते थे। वे संभवतः सब प्रकार के प्रभुत्ववाद के, जिसमें राजा का प्रभुत्व भी शामिल था, विरुद्ध थे। भगवद्गीता के ओडिया अनुवाद के परिशिष्ट में, बलराम दास ने कहा है कि उन्होंने राजा एवं विद्वानों की सभा के सामने खुले तौर पर यह कह दिया था कि शास्त्रों पर केवल ब्राह्मणों का विशिष्ट अधिकार नहीं माना जा सकता, और वे सब लोग शास्त्रों के अध्ययन के अधिकारी हैं जो स्वेच्छा से तथा प्रवृत्ति से भक्त हैं। उन्होंने यह बात कही तथा उस पर दृढ़ रहे यद्यपि वह यह जानते थे कि ऐसा कहकर वे राजा के हाथों दंड और यंत्रणा को निमंत्रित कर रहे हैं। अच्युतानंद की 'गुरु भक्ति गीता' में इस आदेश का वर्णन

है कि गुरु से दीक्षा प्राप्त करने से पहले दीक्षार्थी के लिए आवश्यक है कि वह चारों वर्णों के चार व्यक्तियों को आमंत्रित करे तथा उन्हें समान रूप से अपना सम्मानित अतिथि समझकर उनका सत्कार करे। इसका स्पष्ट उद्देश्य था उच्च तथा निम्न जाति के विचारों को और विशेष रूप से ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को ध्वस्त करना। इस आदेश के व्यवहार के अवसर का निर्देश कर इसे और भी अधिक प्रभावशाली बना दिया गया है—वह अवसर है दीक्षा, जिसके साथ ब्राह्मणों के जुड़े होने का महत्त्व जनमानस में प्रतिष्ठित है। यह निर्देश कि चारों वर्णों के चार व्यक्तियों को बुलाकर उन्हें समान रूप से सम्मानित किया जाए, सीधे ही प्राचीन पवित्रतावादी विचारधारा के विरोध में था। यह इस स्वीकृति का संभवतः सर्वाधिक प्रतीक था कि दीक्षा प्राप्त कर व्यक्ति सब प्रकार के जाति-भेदभावों से परे हो जाता है तथा इस भेदभाव में विश्वास करनेवाले समाज को अस्वीकार कर देता है। अपनी एक अन्य पुस्तक 'शून्य संहिता' में अच्युतानंद कहते हैं कि नीची जाति में उत्पन्न अथवा जातिशून्य व्यक्ति परमेश्वर से साक्षात्कार की आकांक्षा से वंचित नहीं किया जा सकता। निश्चय ही यह ऐसी वाणी है जो तत्कालीन परम्परा से बिलकुल अलग है।

आज तक भी पंचसखाओं के बहुसंख्यक अनुयायी सामाजिक अधिक्रम में अपेक्षाकृत नीची मानी जानेवाली जाति के हैं। बलराम दास को प्रायः ग्वालों के समाज का गुरु कहा जाता है। अच्युतानंद ने तो पुस्तकों की पूरी एक श्रृंखला ही लिख डाली जिसमें यह प्रतिपादित किया गया कि यद्यपि ग्वालों को समाज में नीचा स्थान दिया जाता है, तथापि वे वस्तुतः नीची जाति के नहीं। वे भी अन्य लोगों के समान ईश्वरोन्मुख मार्ग पर चलने के अधिकारी हैं। उन्हें मछुआरों का भी ध्यान रहा—उन मछुआरों का जिन्हें सामाजिक व्यवस्था के निर्माताओं ने सामाजिक अधिक्रम में शायद इसलिए नीचा स्थान दिया कि वे निर्दोष मछलियों के हत्यारे थे, पर यह भुला दिया कि इस प्रकार वे अन्य वर्णों के लोगों को मछली खाने का सुख प्रदान करने के लिए हत्या का लांछन अपने ऊपर ले लेते थे। अच्युतानंद की कैवर्तगीता में मछुआरों के जीवन का वर्णन है। इस छोटी रचना का बल इस बात पर है कि तात्त्विक दृष्टि से सभी मनुष्य समान हैं और उसी को यह बात स्पष्ट होती है जिसके पास सही दृष्टि है—ज्ञान की दृष्टि। लोगों का व्यवसाय और वृत्ति कुछ भी हो, इस तात्त्विक दृष्टि से कोई अंतर नहीं आता, क्योंकि समाज के चलते रहने के लिए तरह-तरह के व्यवसायों का होना आवश्यक है। अपने जन्म के कारण कोई ऊँचा या नीचा, अथवा बड़ा या छोटा नहीं होता—ये सब कल्पनाएँ इसी संसार की हैं। यहाँ तक कि मेहतर भी उसी दिव्य का अंश है। जाति-विरोधी वाणी का प्रयोग करनेवालों में सबसे ऊँचा स्वर बलराम दास का है। जातियाँ चार हों या चार सौ, उनमें कोई अंतर नहीं, क्योंकि वे सभी एक

ही ज्योति के स्फुलिंग हैं। ईश्वर का वर्णन करते हुए बलराम कहते हैं कि वैश्य ईश्वर की आंत है, क्षत्रिय बांह है, ब्राह्मण श्वास है, और शूद्र उसकी शक्ति है। यह वर्णन इस परम्परागत विश्वास पर सीधे प्रहार करता है कि चारों वर्णों की भिन्नता और उच्चता और निम्नता का अनुक्रम ईश्वरकृत है क्योंकि इन चार वर्णों का उद्भव क्रमशः ईश्वर के मुख, भुजाओं, जघाओं, और चरणों से हुआ है।

एक बौद्ध कथा के अनुसार, शाक्यवंश के एक राजा ने एक बार भगवान बुद्ध से दीक्षा लेने का निश्चय किया। उन्होंने अपनी गद्दी, राजपाट और परिवार सब को छोड़ दिया, सिर मुंडा लिया, सन्यासियों के गेरुए वस्त्र धारण कर लिए तथा अपने को भगवान के समक्ष प्रस्तुत किया जो अपने शिष्यों के साथ सभा में बैठे थे। राजा ने एक को छोड़कर सबके लिए सम्मान प्रकट किया और अपने स्थान पर बैठ गए। राजा ने जिसे मान न दिया था वह भगवान बुद्ध का एक प्रसिद्ध और अतिप्रिय शिष्य था, परन्तु दीक्षा प्राप्ति से पहले वह शाक्यवंशियों का नाई था। भगवान बुद्ध ने राजा से इस स्खलन का—उस शिष्य को मान न देने का—कारण पूछा। उत्तर मिला 'भगवन्! मैं शाक्य वंश का एक राजा हूँ और यह हमारी सेवा में एक नाई था। उसे मैं कैसे मान देता?' तथागत ने तुरत कहा कि यह तो मूर्खता की बात है क्योंकि सन्यासी का न तो कोई परिवार होता है, न कोई जाति।

भारतीय रहस्यवाद के इतिहास में ऐसे सन्तों की अनेक कहानियाँ मिलती हैं जो जाति की सीमाओं और अवरोधों को पार कर गये। दीक्षा प्राप्ति के बाद व्यक्ति उस जाति का नहीं रहता जिसमें वह जन्मा था, वह दीक्षितों के समुदाय का अंग बन जाता है जिसमें जातिगत भेदभाव नहीं होते। मध्ययुगीन भारत में सभी वर्गों के लोग रहस्यवादी और सत बने। कबीर बुनकर थे, दादू दयाल धुनिया थे, रैदास मोची थे, और नामदेव दर्जी थे। कुछ बौद्ध सिद्धाचार्यों के नाम से यह संकेत मिलता है कि सामाजिक व्यवस्था में उनकी जन्मकालीन स्थिति खास ऊँची न थी। बड़ी बात तो है कि दीक्षा प्राप्ति के बाद जब इन संतों और मुक्त आत्माओं ने अपने सामाजिक वर्ग के सूचक चिह्नों को त्याग दिया तब न केवल उनकी जीवन शैली में जातिशून्य व्यवहार के चिह्न थे, अपितु उन्होंने एक आदर्श समाज की कल्पना का प्रचार आरंभ किया जिसमें मनुष्य को सबसे पहले मनुष्य के रूप में देखने पर बल था, उसके ऊँचा या नीचा होने पर नहीं। कभी-कभी, जैसा कि कबीर ने किया, उन्होंने सम्पूर्ण जाति व्यवस्था का मज़ाक उड़ाया है और कहा है कि वे सभी जातियों के हैं, जिसकी व्यंजना थी कि वे किसी जाति व्यवस्था को नहीं मानते या इस भेदभाव से ऊपर हैं। कबीर अपने एक पद में कहते हैं :

> कुभरा ह्वै करि बासन घरिहूँ, धोबी ह्वै मल धोऊँ।
> चमरा ह्वै करि रगौ अघौरी, जाति पाँति कुल खोऊँ॥

कबीर के [illegible] [illegible] है कुछ भक्त ऐसे उत्पन्न हु-ए जब इन [illegible] को [illegible] में उनकी जाति के विरुद्ध उन्हें स्वर देना है। [illegible] अच्युतानंद इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनका कहना है कि उनके पूर्वज क्षत्रिय थे। परन्तु उनके दादा ने करिन (लिपिक) का काम शुरू कर दिया और उनके पिता को, जब वे पुरी आ गए, राजा के आदेश से जगन्नाथ मंदिर में मुद्रिया (जगन्नाथ के मुद्रा-मुहर रखनेवाला) के रूप में नियुक्त कर दिया गया। अच्युतानंद की माता क्षत्रिय परिवार की थीं। परंतु स्वयं उन्होंने न तो पिता का व्यवसाय अपनाया, न दादा का। वे अपना कुलनाम धारण न करना चाहते थे। जब वे [illegible] न मिलने उनके घर गए तो घर की एक क्षत्रिय कन्या ने उनसे विवाह कर लिया। इस अनियमित विवाह के कारण वे जाति से बाहर कर दिए गए। अच्युतानंद ने अपने को और अपने बाद के लोगों को गोपालवंशी (ग्वाला) कहा—गोपाल वे लोग थे जो कृष्ण की लीलाओं में उनके साथी थे। उन्होंने कहा कि वह भक्त सर्वश्रेष्ठ है जिसकी मनोभावना शूद्र की है। उन्होंने कहा कि दंभीला ब्राह्मण धर्मग्रंथों पर एकाधिकार जमाए रखता है और इस कारण उसमें भक्तजनोचित नम्रता नहीं होती। क्षत्रिय का स्वभाव राजा का होता है। वह सदा औरों को दलित करने की मनःस्थिति में रहता है और अपने को औरों से श्रेष्ठ समझता है। वह सदा हिंसा में डूबा रहता है, मानो वही उसके जीवन का लक्ष्य हो। वैश्य खरीद-फरोख्त के काम में लगे रहते हैं और उन्हें हमेशा नफ़ा कमाने की पड़ी रहती है। उनमें व्यापारियों की लेन-देन वाली सौदेबाजी की मनोवृत्ति होती है जो भक्तजनोचित वृत्ति से बहुत दूर है। अच्युतानंद कहते हैं कि केवल शूद्र की मनोवृत्ति ही भक्तजनोचित वृत्ति के अनुकूल है। शूद्र का जन्म होता है अन्य तीन वर्णों की सेवा के लिए। अच्युतानंद कहते हैं कि क्योंकि उनका जन्म भगवान जगन्नाथ की सेवा के लिए हुआ है, इसलिए वे भी एक शूद्र ही हैं। उनकी मनोवृत्ति शूद्र (सेवक) की मनोवृत्ति थी। वे यह भी कहते हैं कि वे न तो ब्राह्मण बनना चाहते हैं, न क्षत्रिय, न वैश्य। उन्हें शूद्र होना इसलिए मंजूर है कि शूद्र की मनोवृत्ति के सहारे उनके लिए हृदय-परिवर्तन अधिक सुकर है। अच्युतानंद इस

निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शूद्रवृत्ति की भक्ति ही वास्तविक भक्ति है।

जगमोहन रामायण में बलराम दास बताते हैं कि किस प्रकार स्वयं भगवान जगन्नाथ ने उन्हें राम और उनकी लीलाओं का कथा कहने का आदेश दिया। बलराम कहते हैं कि वे हमेशा भगवान जगन्नाथ के समीप रहे हैं, उनकी सेवा करते रहे हैं, और उनके आदर्शों का पालन करते रहे हैं, और वस्तुतः यह उन्हीं का आदेश था कि एक शूद्र के रूप में बलराम कलियुग में रामायण की रचना करें। बलराम को मात्र एक साधन बनकर उनके आदेश का पालन करना था। अन्य अवसरों पर तथा अपनी अन्य रचनाओं में बलराम ने अपने को 'बौरी' कहा है, यह उड़ीसा की सबसे छोटी जातियों में से एक है। एक रूपकात्मक प्रसंग में अच्युतानंद हमें बताते हैं कि पंचसखा, सतयुग में ब्राह्मण थे, द्वापर में क्षत्रिय, त्रेता में वैश्य, और वे ही कलियुग में शूद्र बनकर जन्मे। अनंत युग में, जो इस नामरूपात्मक जगत का सार-तत्त्व और नित्य तत्त्व है, वे केवल गोपाल हैं या भक्त जिनका काम है भगवान की लीला गाना तथा सखा और सेवक के रूप में लीलाओं की विवृति में सहायता करना।

पंचसखाओं ने अपने लिए 'दास' कुलनाम का प्रयोग किया—दास अर्थात् परमेश्वर के सेवक। यह उन्होंने इसलिए किया कि इस बात को बिलकुल भुला दिया जाए कि वे इस या उस जाति में जन्मे और पले थे। सम्पूर्ण भारत में प्रचलित वैष्णव परम्परा से मंत्र ग्रहण कर उन्होंने अपनी-अपनी जातियों को तिलांजलि दे दी और अपने आपको उन्होंने केवल 'दास' कहा। ऐसे सेवक जिन्होंने परमेश्वर की सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। उन्होंने अपना जो विवरण दिया है उसमें यह स्पष्ट होता है कि वे ब्राह्मण को कभी भी प्रिय न हुए। ब्राह्मणों ने अनेक बार उनकी प्रताड़ना की और कहा कि पंचसखा अपने आपको इसलिए शूद्र कहते हैं क्योंकि उन्होंने पवित्र धर्मग्रंथों का अध्ययन नहीं किया था और जहाँ तक शब्द ज्ञान का संबंध था, वे उसकी परिधि से बाहर थे। अच्युतानंद का कहना था कि पंचसखा शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता थे तथा योग और तंत्रों का भी उन्हें ज्ञान था। परंतु वे स्वभाव से क्योंकि सेवक और भक्त थे और भक्ति के प्रति उनका अत्यधिक झुकाव था इसलिए वे शूद्र बन गए तथा अपने आपको शूद्र घोषित किया। वे सामाजिक अधिक्रम के अनुसार, जिसकी उन्हें रत्ती भर परवाह न थी, वे शूद्र वर्ण के न थे। वे इसलिए शूद्र नहीं थे कि वे इससे बढ़कर कोई काम करने लायक न थे। वे अपने को जान-बूझकर शूद्र कहते थे जिसका कारण था प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के प्रति उनके मन में निहित विरोध भाव। वे चाहते थे कि प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर एक समदर्शी समाज आए जिसकी वे घोषणा करते थे तथा जिसके प्रचार के लिए वे प्रयत्नशील रहते थे। अच्युतानंद कहते हैं, 'पंचसखा सदा और सेवक बने रहना चाहते हैं। हम (पंचसखा) शूद्रों को किसी

भी प्रकार अपने से छोटा और घटिया नहीं मानते। हम स्वेच्छा से भगवान के दास बने हैं तथा बने रहना चाहते हैं।' अच्युतानंद की निराली वाणी है: 'हमने शूद्र बनना इसलिए स्वीकार किया कि हमें अपने कुछ साथियों का नीचा और कुछ का ऊँचा होना मंजूर नहीं था।' उनका निष्कर्ष कथन है कि पंचसखा न तो ब्राह्मण थे न क्षत्रिय, और न वैश्य ही। वे जन्म से शूद्र नहीं थे, अपितु अपनी आंतरिक प्रेरणा के वशीभूत होकर उन्होंने परमेश्वर की सेवा का व्रत लिया तथा इस अर्थ में उन्होंने अपने को शूद्र कहा।

इन शब्दों में साहस की ऐसी धड़कन है जो दृढ़ विश्वास और उस विश्वास से पुष्ट समाज की भावी व्यवस्था के स्वप्न से उपजती है। वह युग ऐसा था, जिसमें जातिगत भेदभाव के आधार पर ही आदर्श और नैतिक मानदंड, तथा कानून और मर्यादाएँ स्थिर होती थीं, जब राजा उसके दरबारी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के समर्थक थे, जब स्वयं भगवान जगन्नाथ सब दृष्टियों से परम्परावादियों और अभिजात वर्ग के लोगों के पक्षधर प्रतीत होते थे। इस युग में पंचसखाओं को असाधारण निर्भीक और साहसी होना पड़ा—प्रचलित व्यवस्था के विरोध में खड़ा होने के रूप से लिए, ऐसे आध्यात्मिक जीवन के समर्थन के लिए जो सत्ता के सामने अपने साथ विश्वासघात नहीं करेगा। उन्होंने जनता को जनता समझा, मनुष्य को मनुष्य समझा, उच्चतर जीवन की आकांक्षा को व्यक्ति की गुणवत्ता की एकमात्र कसौटी माना, तथा आंतरिक तत्परता और निष्ठा को इस बात का प्रमाण माना है कि व्यक्ति सत्य मार्ग पर चल रहा है।

7

विद्रोही भक्त

बलराम दास विद्रोही भक्त थे। सारी पंचसखा मंडली जिसके एक सदस्य बलराम दास भी थे, विद्रोही आंदोलन की प्रतीक थी। पंचसखा, अपने समाज के तत्कालीन आध्यात्मिक, धार्मिक और सामूहिक जीवन की शैली के बहुलांश के विरुद्ध थे। सबसे पहले, वे सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का भाव रखते थे। वे सत्ता के रूप में सत्ता के इतने विरोधी न थे, जितने अधिकारवादी हस्तक्षेप तथा जबरदस्ती के। वे उस सबको सत्य और शुद्ध मानने को तैयार न थे जिसे राज्य का समर्थन और संरक्षण प्राप्त था। गौडीय वैष्णव भक्ति के प्रवाह में वे नहीं बहे यद्यपि इस कारण उन्हें राजा और उनके दरबारियों के संरक्षण से वंचित होना पड़ा। उन्हें सत्ता के कोप का, अनेक परीक्षाओं का तथा काफी मात्रा में तिरस्कार का सामना करना पड़ा। उनके रास्ते में अनेक रुकावटें खड़ी की गईं। परंतु उन्होंने सब बाधाओं का सामना किया तथा अपनी टेक पर दृढ़ रहे। उनसे कठोर व्यवहार कर उन्हें चुप करा देना संभव न था। वे विद्रोह का झंडा बुलंद करने के नतीजे भुगतने को तैयार रहते थे।

अधिकारवादी शास्त्रों और यहाँ तक कि अधिकारवादी समस्त गुरुवाद का भी पंचसखा विरोध करते थे। उन्होंने शास्त्रज्ञान रूपी कूप के गहरे जल का पान किया तथा गुरु भी बनाए। उन्होंने परिश्रमपूर्वक प्रमुख शास्त्रों का अनुवाद किया और उनके मुख्य प्रतिपाद्य को साधारण स्तर के औसत व्यक्ति तक पहुँचाया। परंतु उन्होंने शास्त्रों को अपने ऊपर हावी न होने दिया। और न ही इस बात को इजाजत दी कि शिष्य के विकास मार्ग की निराली पद्धति को गुरु के विवेकहीन मत तथा एकरूपता लाने के अभिमान के पैरों तले कुचल दिया जाए। भगवान जगन्नाथ की तथा उन मूल्यों तथा लक्ष्यों के, जिनके भगवान जगन्नाथ प्रतीक थे, स्तुति गान में, वे किसी से पीछे न रहे। परंतु वे उन सब व्यवस्थाओं के विरोधी थे जो जड़ीभूत और असंवेदनशील होने के साथ सत्ता पूजा की ओर प्रवृत्त होती।

प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के कुछ अंगों में परिवर्तन की आवश्यकता के प्रति वे सचेत थे, क्योंकि उस परिवर्तन को लाए बिना यह संभव न था कि आध्यात्मिक मामलों में सबके लिए स्वतंत्रता और समानता लाई जा सके। वे मठाधीशों के अधिकारवाद, कर्मकांड में संलिप्तता, और सब प्रकार के बाह्याचार के विरोधी थे।

इस बात से किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि उन्हें एकरूपतावादी पुरातनपंथियों के अपशब्दों का शिकार होना पड़ा। तत्कालीन प्रमुख सम्प्रदायों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहा—ऐसे बौद्ध जो अन्य नामों और वेशों को धारण कर अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील थे। यहाँ इस बात का संकेत कर देना उचित होगा कि शंकराचार्य तथा हिंदू धर्म के अन्य प्रमुख नेताओं के पुरी-प्रवास के फलस्वरूप उड़ीसा की सदियों पुरानी बौद्ध-परम्परा का भवन ढह गया और वह समाप्त हो गई। लोगों को पुनः हिंदू धर्म के बाड़े में धकेल दिया गया और जल्दी ही भगवान बुद्ध भी अवज्ञा के पात्र हो गए और उन्हें हिंदू देवी-देवताओं की सूची में शामिल कर लिया गया। वे मूर्ति-भंजक तथा व्यवस्था-विरोध के प्रतीक न रहकर हिंदुओं के नवें अवतार बन गए—अवतारों की आकाश गंगा में विलीन हो गए। इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं कि अलग-अलग हिंदू गढ़ों में बौद्ध नेताओं और संतों को उत्पीड़ित किया गया जिसके फलस्वरूप उन्हें पहाड़ियों और जंगलों में शरण लेनी पड़ी। यह संदेह बना रहा कि बौद्ध प्रच्छन्न रूप से अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं और जो भी व्यक्ति सुप्रतिष्ठित हिंदू विचारधारा से अततोगत्वा अपनी राह अलग कर लेता था उस पर बौद्ध, अनीश्वरवादी, अवांछित तत्त्व, समाज के लिए एक खतरा और न जाने क्या-क्या का आरोप लगाकर उसकी निन्दा की जाती थी। पंचसखाओं ने कभी भी बहुसंख्यक अथवा शासकीय धारा का अनुगमन नहीं किया। उन्होंने निश्चय किया कि वे बचावकारी स्तम्भ का काम करेंगे। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जिन लोगों ने शोर मचानेवाले और बाजी मारनेवाले कैंप में शामिल होने तथा प्रवाह के साथ चलते रहने का आसान रास्ता चुना वे पंचसखाओं को शक की निगाह से देखते थे। व्यवस्था विरोधी किसी भी व्यक्ति की आलोचना करने का सरलतम मार्ग था उसे प्रच्छन्न बौद्ध कह दिया जाए। यह स्वाभाविक ही था कि पंचसखाओं पर भी यह आरोप लगाया जाता।

इस आधार पर कुछ लोगों का यह मत रहा है कि पंचसखा वास्तव में बौद्ध थे। वास्तव में इन लोगों ने 'प्रच्छन्न बौद्ध' शब्द को स्थूल वाच्यार्थ में ग्रहण कर लिया है। यदि पंचसखा केवल बौद्ध ही होते तो वे इतने विस्तार से योग और वेदांत की चर्चा क्यों करते तथा श्री चैतन्य को अपना गुरु क्यों मानते? इस प्रकार से 'बौद्ध' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में हुआ है, वाचिक अर्थ में नहीं। इससे ... थी कि भारत के इतिहास में पंचसखाओं के संदर्भ में ही

इस शब्द का पहली बार प्रयोग किया गया हो। मायावादियों को भी यही संज्ञा दी गई तथा स्वयं रामानुज ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा। इस शब्द के प्रयोग का इतिहास और पुराना है। पद्म पुराण में स्वयं शिव के मुख से यह कहलवाया गया है कि मायावाद का संबंध प्रच्छन्न बौद्ध कहलानेवालों के हीन कोटि के शास्त्रों से है। शंकर के कुछ आलोचकों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। संभवतः इसी प्रकार, उड़ीसा में लोगों ने पंचसखाओं को प्रच्छन्न बौद्ध कहा क्योंकि वे पंच-सखाओं के दृष्टिकोण से, पंचसखाओं के द्वारा बाहरी तथा अनावश्यक तत्त्वों को प्राथमिकता देने की वृत्ति से, असहमत थे।

गौड़ीय वैष्णववाद को राजा का संरक्षण मिलने के कारण पंचसखाओं की निर्गुण भक्ति धारा को धक्का पहुँचा और यह धारा संभावित उत्पीड़न से बचने के लिए पहाड़ियों और जंगलों में जा बसी। तथापि स्पष्ट है कि इस परम्परा ने अनेक प्रतिकूल और विरोधी परिस्थितियों के बीच अपना अस्तित्व कायम रखा। पंचसखाओं के तीन सौ वर्ष बाद जिस साहित्य को लिखा माना जाता है उसमें प्रधान रूप से काव्य, छंद, और चम्पू हैं जिन्हें प्रधान रूप से गौड़ीय वैष्णव भक्ति से प्रेरणा प्राप्त हुई है। तथापि दूसरी परम्परा भी, ख्याति के प्रकाश पुंज से परे तथा संभवतः अलग-थलग पड़े गुरुओं के चारों ओर जमा शिष्य मंडली के रूप में, अपने को जीवित रखने के लिए प्रयत्नशील थी। अब भी सारे उड़ीसा में अनेक गद्दियाँ ऐसी हैं जिन्हें लोग उनके गुरुओं के नाम से जानते हैं और वे अब भी चल रही हैं। अपनी विस्मृतता की अवधि में इस परम्परा से संबंधित ग्रंथों की अभी तक न समुचित खोज हो पाई है, और अतएव न उसका अध्ययन हो पाया है। इस कोटि में पहले स्थान पर है चैतन्य दास के दो ग्रंथ — निर्गुण महात्म्य और विष्णुगर्भ पुराण। इसके बाद द्वारका दास की प्राची गीता का नाम आता है। अगले लेखक हैं सुप्रसिद्ध महीमंडल गीता के जाने-माने लेखक अरक्षित दास। इस कड़ी में जो अन्य नाम जोड़े जा सकते हैं वे हैं देवानंद दास की बैवद्र गीता और दीनकृष्ण दास का नामब्रह्म गीता। इस प्रकार मरणासन्न प्रतीत होनेवाली परम्परा वस्तुतः जीवित रही, तथा पुनः उन्नीसवीं सदी में महिमा धर्म के रूप में, जिसका मुख्य कवि भीमा भोई था, पुनः जीवित हो उठी। महिमा धर्म एक अत्यंत सशक्त आंदोलन था जो उड़िया भाषी प्रदेश के बाहर भी फैल गया। भीमा भोई उस परम्परा का तथा अपने समय का अंतिम महान और धार्मिक कवि था। उसकी जाति सबसे नीची जातियों में थी। वह सब देवी-देवताओं और सम्प्रदायों का विरोधी था, वह मानव समाज के बंधुत्व का उद्गाता था और मुक्ति की सबसे असम परिभाषा देता था। वह अपने गीतों में अवश्य ही संसार के उद्धार की प्रार्थना करता था, चाहे वह स्वयं नारकीय स्थिति में था। ऐसे विद्वान भी हैं जो महिमा धर्म को भी बौद्ध धर्म के अंतर्गत मान लेंगे। वह ये बात

दोनो स्तरो पर, आध्यात्मिक दृष्टि से मानव जीवन का पूर्ण पुनरुज्जीवन उनका लक्ष्य था।

पचसखा मध्ययुग के भारत मे विद्यमान थे। यूरोप के मध्ययुग मे धर्मांधता, धार्मिक उत्पीडन, तथा मानवीय भावनाओ के प्रति कठोर उदासीनता का बोल-बाला था। आध्यात्मिक साधना के उत्साह ने नये दार्शनिक कोटि के पाडित्यवाद का रूप धारण कर लिया (साधना गौण हो गई, पाडित्य प्रधान हो गया।) जो सार्वजनीनता के दर्शन मे आकर विलीन हो गया। इस धारा को आगे बढानेवाले लगभग सभी लोग बौद्धिकता और तर्क के क्षेत्र मे दुहरा जीवन जी रहे थे। वे वास्तविक सत्य की प्रकृति पर अधिकाधिक निमग्नता से विचार करते थे, परन्तु वास्तविक जीवन मे वे उत्पीडनकारियो का साथ देते थे। परन्तु मध्ययुगीन भारत, लगभग सपूर्ण भारत, मे यह स्थिति न थी। तत्कालीन भारत के वैचारिक एव साधनात्मक आदोलनो के नेताओ मे समन्वय स्थापित करने की सशक्त अंतर्दृष्टि तथा आतरिक प्रेरणा थी। और वे अपने दृष्टिकोण को अधिकाधिक व्यापक बनाते हुए विभिन्न धाराओ के मौलिक तत्वो को आत्मसात् करने के इच्छुक थे। मध्य-युगीन भारत के इन सतो तथा रहस्यवादियो ने कभी राजाओ के सामने घुटने नही टेके, वास्तविक जीवन की यथार्थताओ से कभी मुह नही मोडा, और जीवन के स्थायी मूल्यो का पोषण और समर्थन किया। वे जनता थे। मानव के सर्वश्रेष्ठ तत्व को आगे बढानेवाले थे। उन्होंने नई भाषाओ, नए साहित्य और एक नए समन्वयवादी दृष्टिकोण के विकास मे योगदान किया। यूरोप के मध्य युग को विद्वानो ने 'एक लम्बी रात' की सज्ञा दी है जिसमे मनुष्य की चेतना मनुष्य का साथ छोडकर लबी नीद मे डूब गई थी, विद्वान लोग तर्क की सहायता मे पदार्थ की प्रकृति की खोज मे लगे थे जबकि वास्तविकता यह है कि तर्क इस बारे मे सहायक नही होता।

इसके विपरीत, मध्ययुगीन भारत मे वैचारिक जगत् के नेताओ के चिन्तन से एक क्राति की स्थिति बन गई थी। इन नेताओ ने जनता के [illegible] पुराणो की दासता, अधविश्वास तथा ऐसी भाषा की जकड का शिकार होने से बचाया जिसका वे प्रयोग नही करते थे। जिस किसी युग मे भारत आध्यात्मिक पुनर्निर्माण के लिए पुन प्रयत्नशील होगा, उसे अपने आध्यात्मिक [illegible] करने के लिए मध्ययुगीन सतो की ओर बार-बार मुडना होगा। [illegible] के [illegible] का, नानक का, दादू का, [illegible] और [illegible] का। उडीसा के [illegible] — [illegible], [illegible] और [illegible]। भारत के आध्यात्मिक जीवन के [illegible] वेदो और उपनिषदो मे [illegible] है। परन्तु [illegible] है [illegible] है। [illegible] और

चुनीदा अभिजात वर्ग की सम्पत्ति बन कर रह गए। अपनी रचना के परवर्ती युगो में वे पंडितो और ब्राह्मणों के स्वार्थपूर्ण अधिकार में रहे। मध्ययुग में आकर ही वे सार्वजनिक संपत्ति बन पाये जब कि संतो और रहस्यवादियो ने, जिनमे से अधिकतर निम्न वर्ग के थे, साक्षात्कार के द्वारा सब लोगो के लिए, जिनमे निम्न-तम वर्ग के लोग भी थे, युगों पुरानी विरासत को सुलभ कराया।

उड़ीसा मे यह प्रक्रिया शूद्र मुनि सारळा दास से आरंभ हुई तथा पंचसखा युग मे जाकर पूर्णता को प्राप्त हुई। पंडित वर्ग अपने पांडित्य का दरबारों में प्रदर्शन कर फल-फूल रहा था और पचसखा धरती मे गड़ी ज्ञान सपदा को पानू निकाल बनाकर आम लोगों तक उसे पहुँचाने मे लगे थे। संस्कृति को नई प्रेरणा प्राप्त हुई और उसका एक नया आयाम विकसित हुआ। ओड़िया रामायण और ओड़िया भागवत के कारण ऐसी परिस्थितियाँ बनी जिनमे भिन्न-भिन्न वर्गों के लोगो में नवीन भावात्मक मेल-मिलाप का विकास हुआ। अपनी महान परम्परा की सरदा के साथ उड़ीसा के ग्रामीण समाज मे जो पारस्परिक संबधो की निकटता विकसित हुई उसका अधिकाश श्रेय ओड़िया भागवत और ओडिया रामायण तथा उनके लेखकों—जगन्नाथ दास और बलराम दास—को है।

परिशिष्ट : कुछ नमूने

बलराम दास एक संपूर्ण युग के प्रतिनिधि हैं, एक ऐसे युग के जिसने अपने समय के वैचारिक आंदोलन को एक विशिष्ट स्वरूप तथा निश्चित दिशा प्रदान की। यह युग पंचसखा युग है, और जब भी हम बलराम दास के विषय में कुछ कहेंगे, तो हम कुल मिलाकर इस युग के वृहत् भंडार की चर्चा कर रहे होंगे।

नीचे हम उस युग के साहित्य के कुछ नमूने दे रहे हैं। इनमें से अधिकतर उद्धरण बलराम दास की रचनाओं से लिए गए हैं, कुछ औरों से भी लिए गये हैं। इनमें हम कोई बात सिद्ध नहीं करना चाहते। इनका उद्देश्य ओडिया भाषा और लिपि से अपरिचित पाठकों को उस सरल और बेलाग शैली की जानकारी देना है जिसमें पंचसखाओं ने अपने भाव तथा विचार प्रकट किए।

पंचसखाओं की भाषा जनमानस में इतने गहरे उतर गई है कि चार शताब्दियों बाद आज भी लोगों को उसकी अनेक पंक्तियाँ लगातार क्रम से याद हैं जिनका प्रयोग वे लोग पारस्परिक वार्तालाप में, अभिव्यक्ति के आदर्श के रूप करते हैं। उनके मन में भागवत और रामायण का वही स्थान है जो अंग्रेजी भाषियों के मन में बाइबिल के निकट अतीत में हुए अंग्रेजी अनुवाद का है।

परि जि जिस क्रीडा कले।
मुनि कुहाइले॥
निमन्ते।
चित्ते॥
हन रामायण, उत्तराकाण्ड

क्रीड़ाएँ कीं, उनको उन्होंने
द्धा (अनुराग) के कारण उनका

चुनीदा अभिजात वर्ग की सम्पत्ति बन कर रह गए। अपनी रचना के परवर्ती युगों मे वे पंडितों और ब्राह्मणों के स्वार्थपूर्ण अधिकार मे रहे। मध्ययुग में आकर ही वे सार्वजनिक संपत्ति बन पाये जब कि संतों और रहस्यवादियों ने, जिनमें से अधिकतर निम्न वर्ग के थे, साक्षात्कार के द्वारा सब लोगों के लिए, जिनमे निम्न-तम वर्ग के लोग भी थे, युगों पुरानी विरासत को सुलभ कराया।

उड़ीसा मे यह प्रक्रिया शुद्र मुनि सारळा दास से आरंभ हुई तथा पंचसखा युग मे जाकर पूर्णता को प्राप्त हुई। पंडित वर्ग अपने पांडित्य का दरबारों में प्रदर्शन कर फल-फूल रहा था और पचसखा धरती में गड़ी ज्ञान सपदा को चालू सिक्के बनाकर आम लोगों तक उसे पहुँचाने में लगे थे। संस्कृति को नई प्रेरणा प्राप्त हुई और उसका एक नया आयाम विकसित हुआ। ओडिया रामायण और ओडिया भागवत के कारण ऐसी परिस्थितियाँ बनी जिनमे भिन्न-भिन्न वर्गों के लोगो में नवीन भावात्मक मेल-मिलाप का विकास हुआ। अपनी महान परम्परा की समझ के साथ उड़ीसा के ग्रामीण समाज में जो पारस्परिक संबंधो की निकटना विकसित हुई उसका अधिकाश श्रेय ओडिया भागवत और ओड़िया रामायण तथा उनके लेखको—जगन्नाथ दास और बलराम दास—को है।

4. एमनक समये श्रीराम वाम कर।
दक्षिण भूजकु सेहि कहइ उत्तर॥
संग्राम कालरे किपा पछकु पलाउ।
तोहर परा लोक निसन किपा हेउ॥
दक्षिण भूज बोलइ ताकु एहा शुणि।
तु जाहा बोइलु हो नुहइ एहुवाणी॥
मुहि संग्रामरे किपा देवि पछघुंचा।
कोणसि कालरे नुहइ पछघुंचा॥
फला मेलिवारे तुहि मोते पछ करि।
करवाल धेनि मुहि आग घाट मारि॥
जेबन कारणे मुहि पछकु अइलि।
श्री रामचन्द्र दक्षिण कर्णरे कहिली॥
करुणासागर अटन्ति जे रघुनाथ।
छेदिव कि न छेदिव एहि दशमाथ॥
सत पचारिवाकु जे अमिआठ मुंहि।
आज्ञा होइले शत्रुकु मारिवइँ जाइ॥ लंकाकाण्ड

इस समय श्रीराम का बायाँ हाथ दाहिने हाथ से कह रहा है—संग्राम के समय तू पीछे क्यों भागता है? तुम जैसा आदमी नम्र क्यों हो रहा है? यह सुनकर दाहिना हाथ उसे (बाएँ हाथ से) कह रहा है—तूने जो कहा वह बात वैसी नहीं है। मैं संग्राम में पीठ दिखाऊँगा? किसी भी समय मैं पीछे हटनेवाला नहीं हूँ। ढाल मिलने पर तू मुझे पीछे कर देता है। करवाल (तलवार) लेकर सामने से सैन्यों को मारता हूँ। जिसके लिए मैं पीछे आया हूँ (वही) श्रीरामचन्द्र के दाहिने कान में (मैंने) कहा है। रघुनाथ तो करुणासागर हैं। वे दशमाथ (रावण) को मारेंगे या नहीं मारेंगे यही संवाद पूछने के लिए मैं (पीछे) आया हूँ। आज्ञा होने से (मिलने पर) जाकर शत्रु को मारूँगा।

अति बुद्धिमन्त जे होइले नाश जाइ।
अति गुर्वीमन्त अनाचारी जे हुअइ॥
अति सम्पत्तर हरइ पर शत्रु।
अति प्रियजनकु निकट होइ मृत्यु॥
अति बलवन्त केव नपारइ चालि।
अति धर्म करे नसहइ महीमण्डली॥
अति हि पण्डित हुअन्ति नर बन्द।
अति हि धनवन्ता ह नपारइ दाइ॥

अति हि दानकला करइ बहुपाप।
अति हि दयालु र बहुत थाप ॥
अति हि तपिले सुना हुअइ जे मंद।
अति हि कषोट मारा ब्रह्महत्या गुन ॥
अति हि सन्तपन कला रघुपति
भण्डर भण्डकथारे तेजिला जुवती ॥ उत्तराकाण्ड

अति बुद्धिमान होने से नाश हो जाता है। अति गुणिमत अनाचारी होता है। अति गर्ववन्त का धन शत्रु हर लेता है। अति प्रिय जन की निकट में ही मृत्यु हो जाती है। अति धनपन कभी पस नहीं सकता। अति धर्म करने से धरती उसे सह नहीं सकती। अति पढ़ने से लोग पागल हो जाते हैं। अति धनवंत था नहीं मरता। अति दानवंत बहुत पाप करता है। अति दयालु का बहुत ही थाप (जोर) रहता है। अति तपने से सोना खराब हो जाता है। अति कषोट (गुण परीक्षा) करना ब्रह्महत्या के समान है। रघुपति ने अति सतपन किया, जो भड लोगों की झूठी बातों से युवती (पत्नी) को त्याग दिया।

6. शिला सालचण्डी मगला शिव।
व्रत तीर्थ तिथि करिवा भाव ॥
एहि रसरे मातिला निरते।
ईश्वरकु नचिन्हिला जगते ॥
बजाणन्ति अरूप बोलिण वासुदेव।
प्रतिमा पितुला करि कस्यान्ति भाव ॥
देखु देखु सुणुथान्ति नबुझन्ति जन।
पूजाकला देवता न नकहे बचन ॥
रूप तीर्थ व्रत पूजा होम कर्म मिछ।
देवदेवी माया ए पटल सबु तुच्छ ॥
—बलराम दासः छतिश गुप्त गीता

शिला, सालचंडी, मगला, शिव, व्रत तीर्थ, तिथि आदि करने का भाव—इस रस मे डूबकर लोगो ने ससार मे ईश्वर को नही पहचाना। वे यह नही जानते हैं कि वासुदेव अरूप हैं। प्रतिमा, पुतली बनाकर भाव (पूजा) करते हैं। देखने-सुनने से भी लोग समझते नही हैं। पूजे जानेवाला देवता बोलता नहीं है। रस, तीर्थ, व्रत, पूजा, होम, कर्म सब झूठे है। देव, देवी माया यह पटल (शृंखला) सब तुच्छ है।

7. वैश्य तो नयन अटइ।
क्षत्रिय श्रवणकु कहि ॥

ब्राह्मण नासार पवन ।
शूद्र जे मुखरे प्रमाण ।।
एमन्ते चारिजाति कहि ।
ज्योतिमध्यरु जन्म होइ ।।

—अच्युतानन्द दास: गुप्त गीता

वैश्य तेरी जांघ है । कान को क्षत्रिय कहा गया है । ब्राह्मण नाक का पवन (श्वास) है । शूद्र मुख है । इस प्रकार चार जातियाँ कही गई है, (जिनका) ज्योति में से जन्म हुआ है ।

8. आदरे क्षत्रिय भक्त भाव
प्रकृति विनाशि नाशइ भेद ।
पाँच पचास विनाश करे
छइ एकादश सेहु सहारे ।
एकमने भक्त वाणिज्य करे ।
वैश्यवृत्तिरे जे कृष्णनामरे ।
द्वितीय भाव निश्चल होइले
तृतीय ब्राह्मण कर्म आचरे ।
मन्त्र मूर्ति क्रिया कर्मकु घेनि
सेहिभावे सारे ए ब्रह्मज्ञानी ।
ब्रह्मप्राप्तिरे निश्चल होइला
ब्रह्मपद सेवा नहुँ से कला ।
तहुँ भकत शूद्र बोलावन्ति
भकति पथरे निश्चल होन्ति ।।

अच्युतानन्द दास: वर्णटीका

पहले भक्त क्षत्रिय भाव से प्रकृति का विनाश करके दु:ख का नाश करता है। फिर पाँच (तत्त्व) पचास (प्रकृति, विभूति आदि) का विनाश करता है। छ: (शत्रु) एकादश (इन्द्रिय) का वही सहार करता है। एक मन से भक्त वैश्यवृत्ति से कृष्ण-नाम में वाणिज्य (का व्यापार) करता है। द्वितीय भाव निश्चल हो जाने से तृतीय ब्राह्मण कर्म आचरण करता है। यह ब्रह्मज्ञानी मंत्र, मूर्ति, क्रिया कर्म को लेकर ब्रह्मपद की सेवा करता है। तब भक्त शूद्र कहलाते हैं और भक्ति पथ में निश्चल होते हैं।

9. तेवे नरजन्म हेब माया अन्धार फिटिब ।
सहजानन्द चरणे सगाअ आशा ।।

ए अंगे कारण पाइ हरेरामकृष्ण एहि।
तिनि अंग मिशि गुरु रूप सदृशा॥
एहि अंग आश्रे करि सुकृत दुष्कृत हरि।
कृष्णप्राप्ति पथ एहु अटइ जान॥
अन्य अंग नरदेही सहज मनीषा एहि।
ए अंग नमजि नुहें महत जन॥
सहजे मनुष्य हेब सहजानन्द चिन्हिब।
सहजे ताहार गति होइब सिना॥
सहज भाव जाणिब सहज प्रेम माणिब।
सहजे ब्रह्मरे लीन होइब किना॥

—बलराम दासः ज्ञान उज्जलमणि से

तब (चरमावस्था के बाद) नरजन्म होगा। माया का अंधेरा फटेगा। सहजानंद चरण में आशा लगाओ। इस अंक में कारण (मुक्ति का कारण) मिलेगा। यही हरे राम कृष्ण तीन अंग मिलकर गुरु सदृश हैं। इस अंग का आश्रय लेकर सुकृत दुष्कृत हरण कर। यही कृष्णप्राप्ति का पथ है। यह जानो। अन्य अंग नर-देही है। यही सहज मनीषा है। इस अंग को न भजकर कोई महत जन नहीं हो सकता। सहज (भक्ति) से मनुष्य मनुष्य होगा। सहजानंद को पहचानेगा। सहज से उसकी गति होगी। सहज भाव जानेगा। सहज प्रेम मानेगा। सहज से ब्रह्म में लीन होगा।

संदर्भ-ग्रंथ

ओड़िया में

1. चित्तरजन दास (सं०) : श्रीमद्भगवद्गीता (बलराम दासक ओडिया पद्यानुवाद) विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, 1950
2. चित्तरजन दास . अच्युतानद ओ पचसखा धर्म विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, 1951
3. नरेन्द्रनाथ मिश्र : बलराम दास ओड़िया रामायण विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, 1955
4. सूर्यनारायण दास : ओड़िया साहित्यर इतिहास (खड 2) ग्रथ मदिर, कटक, 1960
5. सुरेन्द्र मोहान्ती : ओड़िया साहित्यर मध्यपर्व कटक स्टूडेंट्स स्टोर, कटक, 1967

अंग्रेजी में

1. मायाधर मानसिह : हिस्ट्री ऑव ओड़िया लिटरेचर साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली
2. कृष्णचद्र पाणिग्राही : सारळा दास साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली (भारतीय साहित्य निर्माता ग्रयमा
3. चित्तरंजन दास : स्टडीज इन मेडिवल रिलिजन एड लिटरेचर आव ओड़ि विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, 1951

बलराम दास

चित्तरंजन दास

भारतीय
साहित्य के
निर्माता